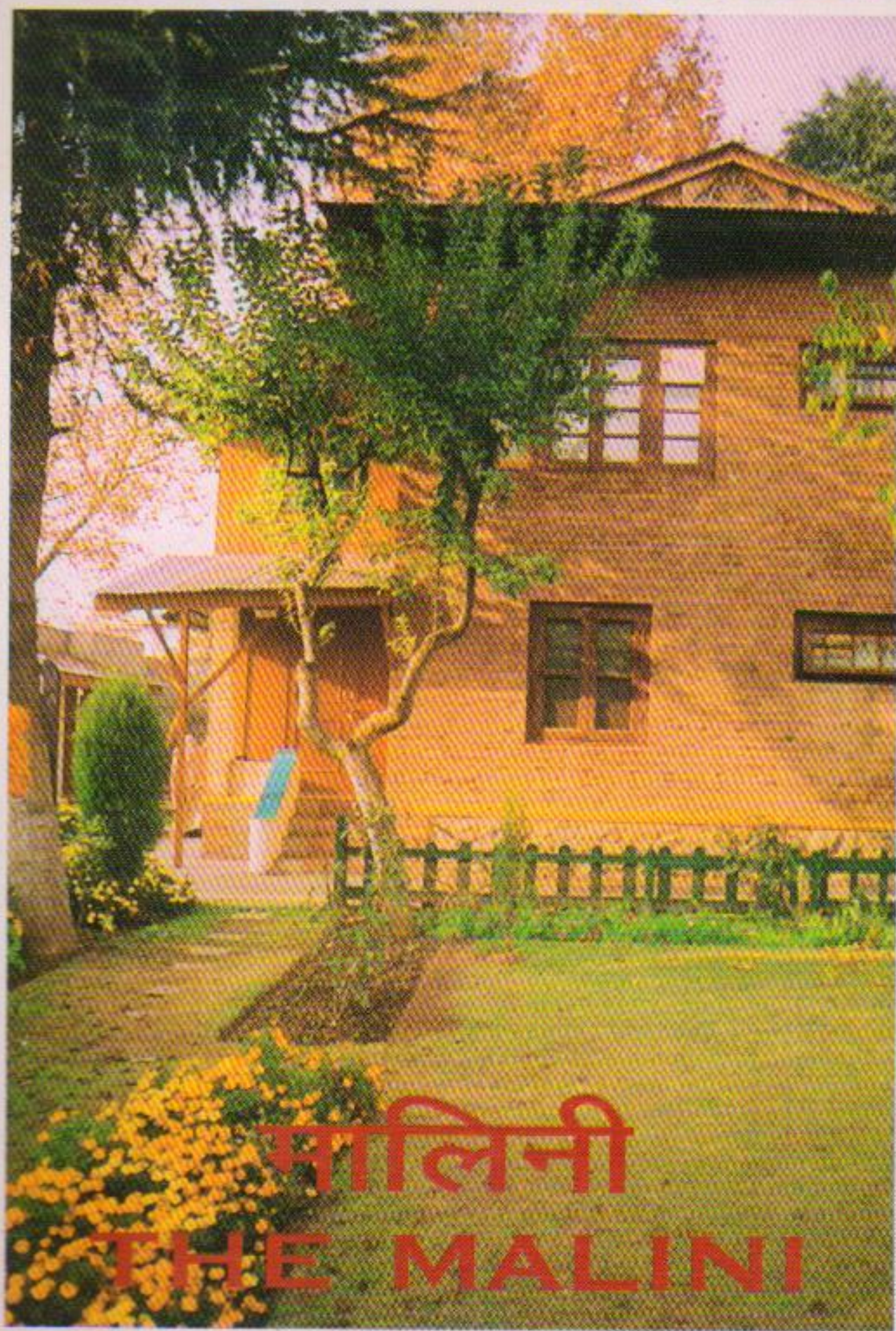


APRIL, 2000



ISHWAR ASHRAM TRUST

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Birthday Jayanti Special



मालिनी
THE MALINI

Abhinavagupta about Mālinī

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

*Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union
with her all the treatises of non-dualistic
order achieve the nature of divine potency.*

T.A.A. XXXVII

ISHWAR ASHRAM TRUST
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

Board of Trustees :

Sri Inderkrishan Raina
(Secretary/Trustee)

Sri Samvit Prakash Dhar

Sri Brijnath Kaul

Sri Mohankrishan Wattal

Editorial Board :

Sushri Prabhadevi

Prof. Nilakanth Gurtoo

Prof. Makhanlal Kukiloo

Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan

(I.A.S. Retd.) Co-ordination

Publishers :

Ishwar Ashram Trust

Ishber (Nishat), Srinagar
Kashmir.

Administrative Office :

Ishwar Ashram Bhawan

2-Mohinder Nagar

Canal Road

Jammu Tawi - 180 002.

Tel. : 553179, 555755

Branch Office :

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044

Tel. : 6943307

Telefax:6955611

April, 2000

Price : Rs. 20.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust

by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568

ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से		4
1. Śiva Sūtras	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	7
2. Concept of Fullness or Pūrṇatva in Indian Philosophy	<i>Dr. Deba Brata Sen Sharma</i>	15
3. Anunnoticed Oversight	<i>Dr. B.N.Pandit</i>	27
4. Unfoldment of the Divinity	<i>Dr. Neelima</i>	29
5. Importance of Śrī Rudra Camakam	<i>Prof. M.L.Kukiloo</i>	35
6. विज्ञान भैरव-समीक्षात्मक अध्ययन	शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज	39
7. जगत् सृष्टि-शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित	43
8. शैवदर्शन के वातायन से	प्रो० नीलकण्ठ गुरुदू	50
9. कहानी मेरे गुरुदेव की	विवेक काक	53
10. From Ashram Desk	(i) <i>Appeal</i> (ii) <i>Calendar of Ashram</i> <i>Festivals</i>	55 56

संपादक की लेखनी से

सद्गुरु महाराज ईश्वर स्वरूप स्वामी लक्ष्मणजी की तिरानवीं जन्मजयन्ती पर मालिनी का जन्मजयन्ती विशेषांक पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अनन्त प्रसन्नता हो रही है। सद्गुरु महाराज के आविर्भाव दिवस के साथ साथ मालिनी का भी यही प्रारम्भदिवस है, क्योंकि आज से पांच वर्ष पूर्व सन् १९९५ के अप्रैल मास में आज के ही दिन मालिनी का प्रकाशन कार्य ईश्वर-आश्रम ट्रस्ट कश्मीर के तत्त्वावधान में विधिवत् आरम्भ हुआ था। रेंगती लुडकती बलखाती इतराती इस मालिनी ने सद्गुरु कृपा से आज छठे वर्ष में अपना शुभचरण रखा। आशा है कि नवसहस्राब्दि का यह वर्ष मालिनी के विस्तार के लिए अतीव लाभदायक सिद्ध होगा और इसी द्वारा ब्रह्मलीन हमारे सद्गुरु महाराज का प्रेरणादायक सन्देश तृषार्त जनता के कानों में अमृत बरसायेगा। सद्गुरुओं का सन्देश ही हमें अपनी असलियत में जगाता है क्योंकि इन्हें राहनुमा या पथप्रदर्शक कहते हैं। हमें चाहिए कि आज के पावन पर्व पर हम आत्मस्वरूप में जगने का संकल्प करें। हम में अथाह संकल्प का साम्राज्य है। ईश्वर की अद्भुत संकल्प की सामर्थ्य लीला अन्तर्हित है। हमें दुर्बल विचारों को आने नहीं देना चाहिए। नकारात्मक विचारों से परहेज करना चाहिए। 'गुरु को भजो तो गुरु का होय' इसी मूलमन्त्र का चिन्तन करना चाहिए। अपनी वृत्ति को विशाल गगन गामी होने देना चाहिए। अपने शिवभाव में, शान्त स्वभाव में, परमात्म स्वभाव में, परितृप्ति स्वभाव में शान्त होना चाहिए। 'सर्वोऽहं' का अनुभव करते रहना चाहिए। आत्मशान्ति में चित्त को डुबोते रहना चाहिए। चित्त की विश्रान्ति ही सामर्थ्य की जननी है। चित्त की विश्रान्ति ही अपने स्वरूप का पता बताने वाली है और सदियों से भटकते हुए जीव को अपने शिवस्वभाव में जगा देती है। हजारों तीर्थों में जाने से, हजारों यज्ञकर्मों से, हजारों अनुष्ठानों से वह पद नहीं मिलता जो चित्त की विश्रान्ति से मिलता है। हम अनात्मप्रवाह का तिरस्कार करें और आत्मप्रवाह को चलायें। हम देह भाव की निन्दा करें उसे अलविदा करें और ब्रह्मभाव को जगायें ताकि संसार की अगाधता हमें डराने के प्रयास से कतरायेगी। कहते हैं कि सांप ठण्ड में ठिठुर जाता है तो शान्त पड़ा रहता है काटता नहीं। सूर्य की धूप निकलते ही वह कब काट ले कोई पता नहीं। ऐसे ही आहार, व्रत, दान, पुण्य आदि से मन रूपी सांप शान्त पड़ा रहता है पर मौका पाते ही फिर भड़क उठता है। अतः हमें चाहिए कि हम इस मनरूपी सांप को विषय भोग रूपी विष से रहित बनाने का संकल्प करें। यह अपने फूटकार से हमें विषाक्त करने पर तुला है। इसका हमें सदा ध्यान रखना चाहिए। आध्यात्मिक कोष को भरने के लिए दिनभर में कुछ समय अवश्य निकालना चाहिए। गुरुमन्त्र

स्मरण सन्ध्यावन्दन पूजा प्रार्थना ध्यान जप साधना व निष्काम कर्म आदि आध्यात्मिक कोष को संपूर्ण रखने के एकमात्र साधन है। यही पारमार्थिक कोष दिन ढलने पर काम आता है। शेष लौकिक आमोद-प्रमोद के कार्य तथा वित्तीय संसाधन बेकार हैं। वास्तव में जीवन मात्र का जो असली स्वरूप है वह बनने बिगडने से बहुत ऊँचा है। बनना शरीर मन और भावों का धर्म है लेकिन हमारा स्वरूप हमारी आत्मा न बनती है न बिगडती है। इसीलिए हमारे सद्गुरु महाराज कहा करते थे कि हमें अजगर वृत्ति से काम चलाना चाहिए। जैसे अजगर को अपने स्थान पर बैठे जो कुछ मिल जाता है, वह उसी से काम चलाता है इसी तरह हमें भी अधिक दौड़ धूप से परहेज कर सन्तोष वृत्ति को अपनाना चाहिए क्योंकि कहा है कि “संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम्। संसारिक भोगों से संसारिक सम्बन्धों से जो शान्ति मिलती है वह कृत्रिम शान्ति है जब जीव परमात्माभिमुख होता है या अन्तर्मुख होता है तो चित्त शान्त होता है तब जो शान्ति मिलती है वही आत्मिक शान्ति है, अकृत्रिम शान्ति है। आइये आज के इस पावन पर्व पर हम सद्गुरु महाराज से सविनय प्रार्थना करें कि वे हमें आत्मिक शान्ति से अनुगृहीत करें। जयगुरुदेव।

सारी भक्त जनता व गुरुभाईयों व बहिनों को विदित ही है कि दक्षिणदिल्ली स्थित सरिता विहार में निर्माणाधीन ईश्वर आश्रम व अमृतेश्वरमन्दिर का निर्माण कार्य कुछ समय के लिए अनुकूल आदेश पत्र के अभाव में स्थगित हुआ था। अब कुछ भक्तों के निःस्वार्थ प्रयास के परिणामस्वरूप वह आदेश पत्र प्राप्त हुआ और ईश्वर-आश्रम का निर्माण कार्य पुनः विधिवत् प्रारम्भ हुआ। आशा है कि अब निर्माण कार्य में सद्गुरु महाराज की कृपा से किसी प्रकार से सुस्ती नहीं आयेगी और आप सब भक्त लोगों के मुक्त हस्त अनुदान से सद्गुरु महाराज की निर्वाण जयन्ती से पूर्व ही इस का संपूर्ण निर्माण कार्य सम्पन्न होगा। आजतक जिन भक्तजनों व दानियों ने इस निर्माण कार्य में मुक्त हस्त दान दिया हम ईश्वराश्रम परिवार के सभी कार्यकर्ता व अधिकारी उन लोगों के आभारी हैं और सद्गुरु महाराज से उनके लौकिक व पार लौकिक कल्याण के लिए प्रार्थना करते हैं। हम अपने इन दानवीरों को पुनः याद दिलायें कि इनका दिया हुआ आर्थिक अनुदान आयकर सीमा ८०-जी-१९६१ अनुच्छेद के अन्तर्गत आयकर से मुक्त समझा जायेगा।

यह पढ़कर आप लोगों को प्रसन्नता होगी कि मालिनी के सम्पादक मण्डल के एक आदरणीय सदस्य शैवशास्त्र के परमविद्वान् प्रो० नीलकण्ठ गुरुट्ट को विगत मार्च महीने में केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी ने आर्थिक पुरस्कार मानक पत्र तथा बहुमूल्य उपवास से सम्मानित किया। प्रो० नीलकण्ठ गुरुट्ट को उनकी अप्रतिम संस्कृत विद्वत्ता व शैव दर्शन के महान् आचार्य होने के कारण यह सम्मान प्राप्त हुआ है।

कश्मीर शैव-दर्शन के धुरन्धर विद्वान को इस प्रकार के सम्मानन से मानव संसाधन विकास मन्त्रालय ने कश्मीर शैवदर्शन के प्रति अपनी अटूट आस्था अभिव्यक्त की। मन्त्रालय के इस महनीय प्रयास से शैवदर्शन के गहन मनन व खोज के प्रति बहुत सारे संस्कृत विद्वान आकर्षित होंगे। स्मरण रहे कि इस भव्य समारोह का आयोजन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान दिल्ली के तत्त्वावधान में, अखिल भारतीय संस्कृत अध्यापक परिषद् ने किया था। समस्त मालिनी परिवार की ओर से प्रो० गुरुटू को हार्दिक बधाईयां।

ईश्वराश्रम परिवार को सद्गुरु महाराज की जन्म जयन्ती पर शुभकामनायें।

जय गुरुदेव

जन्मजयन्ती दिवस

प्रो० मखनलाल कुकिलू

१.५.२०००

वैशाख कृष्ण द्वादशी



MALINI - Quarterly Magazine

Annual Subscription : Rs. 80.00

Price Per Copy : Rs. 20.00

Overseas Subscription : US\$25.00

*All correspondence & subscription
must be sent to the Administrative Office :*

Ishwar Ashram Bhawan

2-Mohinder Nagar

Canal Road

Jammu Tawi - 180 002.

Phone : 555755, 553179

Information regarding printing & publishing etc.

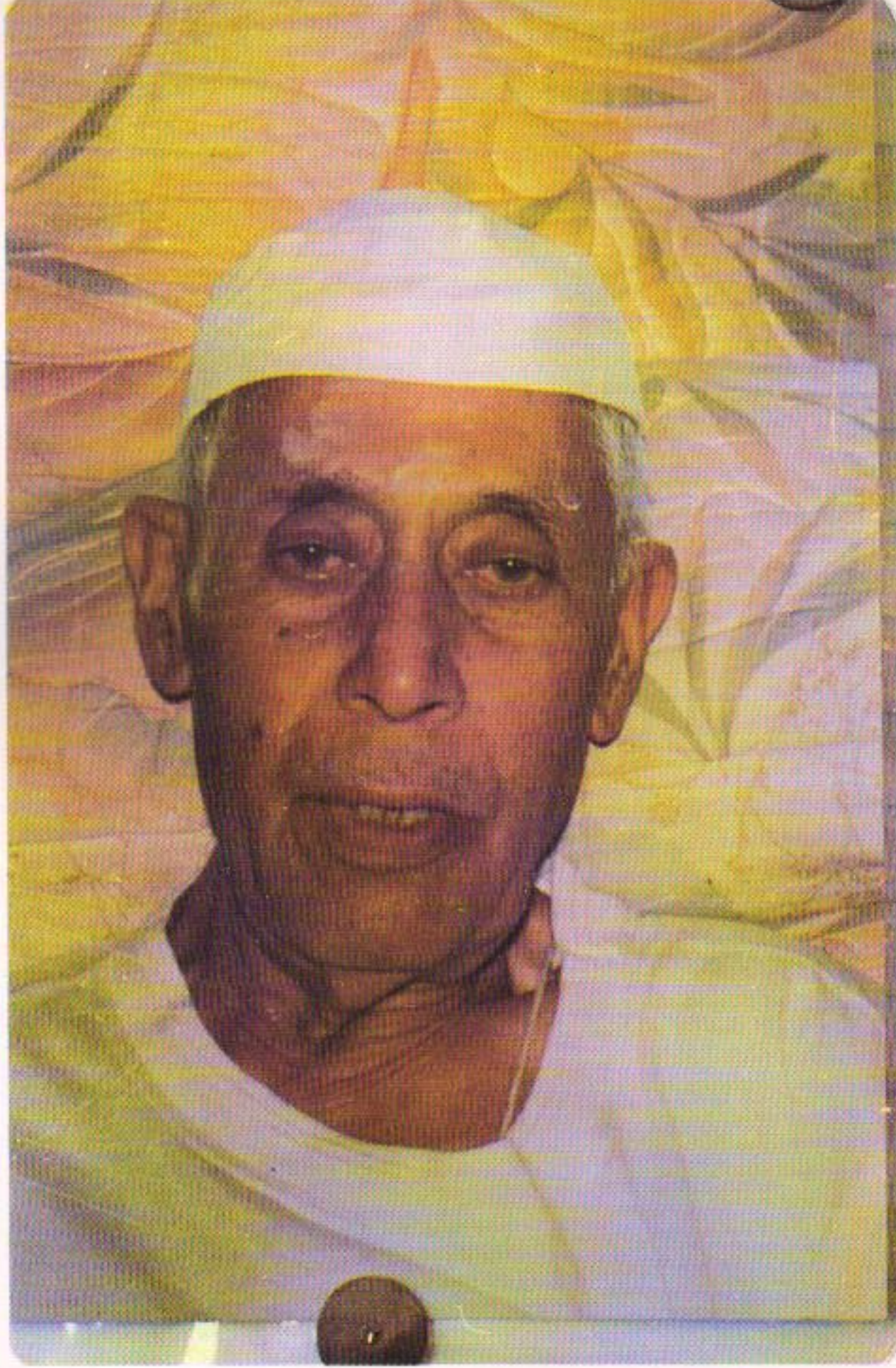
can be had from

Branch Office

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044.

Phone : 6943307

श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस

9-5-1907

महासमाधिदिवस

27-9-1991

ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrī Kṣemarāja

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(continued from last issue)

अथ ईदृशस्य अस्य योगिनो विभूतियोगं दर्शयति—

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः॥१९॥

Śaktisandhāne śarīrotpattiḥ

अथ— Now, दर्शयति—the next sūtra shows, ईदृशस्य अस्य योगिनः— of this yogi, विभूतियोगं—the yogic glory, or the Supreme Powers.

Now the supernatural powers of this yogi are explained in the next sūtra —

शक्तिसंधाने शरीरोत्पत्तिः By putting (concentrating) one's mind on Universal Energy, body internal or external, is formed by his mere will. Such power is attainable by him in two other dream and deep sleep states also.

This type of yogi has not to pray for something to Lord Śiva. He just infuses his energy into that what is desired by his devotee, that embodiment of object takes place at once.

इच्छाशक्तिरुमा कुमारी (१-१३) इति सूत्रेण या अस्य शक्तिरुक्ता, तामेव यदा अनुसंधत्ते—दाढर्येन तन्मयी भवति, तदा तद्वशेन अस्य यथाभिमतं शरीरमुत्पद्यते। तदुक्तं श्री मृत्युंजय भट्टारकेः—

ततः प्रवर्तते शक्तिर्लक्ष्यहीना निरामया।

इच्छा सा तु विनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका॥

इत्युपक्रम्य

सा योनिः सर्वदेवीनां शक्तीनां चाप्यनेकधा।

अग्नीषोमात्मिका योनिस्तस्यां सर्वं प्रवर्तते॥ इति।

शक्तिसंधान माहात्म्यं लक्ष्मीकौलार्णवे—

न संधानं विना दीक्षा न सिद्धीनां च साधनम्।

न मन्त्रो मन्त्रयुक्तिश्च न योगाकर्षणं तथा॥

इत्यादिना प्रतिपादितम्। एतच्च

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थाहृदिस्थितान्।

सोम सूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः॥

इत्यनेन संगृहीतम्। देहिनः—अत्यक्त देह वासनस्य योगिनः, हृदिस्थितान् अर्थान्—तत्तदपूर्व निर्माणादिरूपान धाता—महेश्वरः, प्रकाशानन्दात्मतया सोमसूर्यरूपवाहोन्मीलनेन सोम सूर्य सामरस्यात्मनश्च शक्तेरुदयं कृत्वा बहिर्मुख वाहित्वेन तां आसाद्य संपादयति; इति हि अस्यार्थः

तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात्।

नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितोऽवश्यं प्रकाशयेत्॥

इत्येतत् श्लोक प्रतिपादित स्वप्न स्वातन्त्र्यं प्रति दृष्टान्ते योजितः, इति स्पन्दनिर्णये मयैव दर्शितम्॥

इच्छा शक्तिरुमाकुमारी इति सूत्रेण या अस्य शक्तिरुक्ता

In the 13th sūtra namely, इच्छा शक्तिरुमाकुमारी, या – the energy of will, अस्य— of the yogi, शक्ति— power, उक्ता— explained, तामेव— with that, अनुसंधत्ते—दाढर्चेन तन्मयीभवति— when he is firmly and fully united with that, तदा— then, तत्त्वशेन— through it, or by that force अस्य यथाभिमतं उत्पद्यते— he can bring into being any kind of body according to his desire. तदुक्तं— as is said, श्री मृत्युंजय भट्टारके – in नेत्रतन्त्र (Śrī Mṛtyuñjaya Bhaṭṭārka is another name of Netra Tantra) इत्युपक्रम्य—beginning with “ततः प्रवर्तते शक्ति—thence proceeds that power which लक्ष्यहीना— is beyond the imagination of human being, निरामया— which is faultless, इच्छा सातु विनिर्दिष्टा— which is indicated as icchā (इच्छा) and this will of yogi is not इच्छा or will but ज्ञानरूपा क्रियात्मिका— it is knowledge and action too”. And ending with – सा योनिः सर्वदेवीनांशक्तीनां— the engery of will of such a yogi is said to be energies of all goddesses and gods. अग्नीषोमात्मिकायोनिः— She is of the nature of Agni and Soma, i.e. the cause of fire and moon. Fire is because it works abruptly, moon is because it shines at supreme peak, तस्यां सर्वं प्रवर्तते— so in conclusion in this will of yogi everything exists. No power on the earth can stop his will, though done for amusement. Generally, this type of yogi

does it for amusement.

शक्तिसंधान माहात्म्यं— the greatness and power of the intensity and awareness of Śakti has been described in लक्ष्मी कौलार्णवे—Lakṣmī Kaulārṇava in the following and other verses –

न संधानं विना दीक्षा— initiation has no meaning without Śakti Sandhāna, न सिद्धीनां च साधनं— powers also won't shine, न मन्त्रो— mantra won't succeed मन्त्र युक्तिश्च— secret success of mantra also won't succeed, न योगाकर्षणं तथा— yoga also won't be achieved without this.

एतत् च— the same point has been, इत्यनेन संगृहीतम्— made out in the following verse of Spandakārikā –

यथेच्छाभ्यर्थितः— when earnestly asked for something, धाता— Lord Śiva, the supporter of the world, हृदिस्थितान्— existing in the heart of the, देहिनः— embodied yogi, जाग्रतः— who is awake, सोमसूर्योदयं कृत्वा— causing the rise of the moon and the sun (here moon or soma, as per आनवोपाय is a symbol of apāna (अपान), Śakti and sun or सूर्य is a symbol of prāṇa (प्राण Śakti). In terms of शाक्तोपाय Soma is ज्ञानशक्ति (knowledge) and सूर्य is क्रियाशक्ति (activity). In connection with शाम्भवोपाय Soma is विमर्श (vimarśa) and सूर्य is प्रकाश (prakāśa). संपादयति— accomplishes.

देहिनः अत्यक्त देहवासनस्य योगिनः— this kind of achievement takes place to those yogis who have got attachment for body or for disciples or for people or public, धाता— the supporter of the universe, प्रकाशानन्दात्मतया— this type of yogi does this by inducing in himself the feeling of प्रकाश (prakāśa and ānanda) and आनन्द, सोमसूर्यरूप बाहोन्मीलनेन by giving rise to the flow of the अपान and प्राण breaths, शक्तेरुदयं कृत्वा— by arousing the समना (samanā) Śakti which is residing in the centre of these two, सोमसूर्य सामरस्या त्मनश्च— which brings about equilibrium between अपान and प्राण i.e. in exhaling and inhaling breath बहिर्मुख बाह्वित्वेन तामासाद्य संपादयति— the Lord accomplishes outwardly the desires of various kinds. इति हि अस्यार्थः स्पन्द निर्णये मयैव दर्शितं— the meaning of this abovesaid verse has been

shown by me in Spandanirṇaya, तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्था न— so also in dream, Śiva by appearing in मध्यनाडी, surely reveals always and more vividly the desired objects of such type of yogi who never desists from his prayerful attitude इत्येतत् श्लोक प्रतिपादित स्वप्न स्वातन्त्र्यं प्रति दृष्टान्ते योजितः— the matter explained in the above verse has been used as an example to express the freedom of yogi in dream also when the yogi is united with that energy of will (इच्छाशक्ति), which is explained in 13 sūtras of 1st awakening, and when he is firmly and fully one with that, then whatever he aims with the core of heart not superfluously that happens. He can accomplish any kind of body according to his desire. By mere thinking, his desired object takes shape. No sooner he wills a thing to happen, at that very moment that thing begins to move. As is said in Netra Tantra that “thence proceeds that power which is beyond the imagination of human being which is faultless, and which is indicated as इच्छा, and this इच्छा of yogi is not will alone but this is knowledge and action too. The energy of will of such a yogi is said to be energies of all goddesses and gods. No power on the earth can stop his will though done for amusement. Generally this type of yogi does everything for amusement. This is the cause of fire and moon. In this will of yogi everything exists. In Lakṣmīkaulārṇava also the greatness and power of the intensity and awareness of Śakti has been described. It is said there that initiation has no meaning without aiming without that powers also won't shine. Mantras are useless. That mantra will be successful when it is aiming of such will. Mantrayuktiḥ (मन्त्रयुक्तिः) also comes in devotees only by that will. Yoga also cannot be achieved without that. In Spanda also it is said that Lord Śiva, when earnestly asked for something, accomplishes all the desires existing in the heart of such a yogi who is awake. Whatever object is desired by such type of yogi, that object of yogi, necessarily manifests in the field, just by giving rise in inhaling and exhaling by focussing on will side by side. Those who have attachment for body consciousness, this kind of achievement takes place. For el-

evated yogi this does not occur as he is always focussed in his own way of supreme god-consciousness. Whatever they want to create or happen, those things take place, because of inducing in himself the feeling of Prakāśa and Ānanda, by giving rise to the flow of the Apāna and Prāṇa breaths by arousing the Suṣumnā Nāḍī which is residing in the centre of the two breaths. When he becomes outworld i.e. when his internal consciousness is diverted to external consciousness, then by this way in dreaming state also Śiva by appearing in Suṣumnā Nāḍī, reveals more vividly the desired objects to such a yogi who never desists from his prayerful attitude. Thus this yogi has full freedom in dreaming state also. As is said in Spandakārikā that in the dreaming state also this type of yogi, necessarily manifests desired objects appearing Himself always before the yogi more vividly in the central path (Suṣumnā) owing to his never vanishing prayerful attitude.

It is worth mentioning here that 'माया'—māyā, is handler in dreaming state for a śaivaite (शैवी योगी) and 'प्रकृति'—prakṛiti is handler in dreaming state for a Vedāntī.

This is called 'स्वप्न स्वातन्त्र्य'—independent state of dreaming state. As this type of yogi remains fully conscious everywhere, at the time of death also he is absorbed in God-consciousness. One who remembers these three states, he remembers point of death also. More you get awareness more you are up in God-consciousness.

अन्या अपि अस्य यथाभिलषिताः सिद्धय एतन्माहात्म्येनैव घटन्ते इत्याह—

अन्या अपि सिद्धयः— There are other powers also, अस्य—to such a yogi, यथाभिलषिताः— as desired by him, एतन्माहात्म्येनैव— by the glory of this supreme energy of will (इच्छा शक्तिः) इत्याह— this is explained in the following sūtra—

भूतसंधान भूत पृथक्त्व विश्वसंघट्टाः॥२०॥

Bhūtasandhāna bhūta prthaktva viśvasamghaṭṭāḥ

Such a yogi is capable of (i) helping humanity unbounded by space and time (ii) casting off his body for specified time-periods and (iii) manifesting his body at various places simultaneously by remaining in God-consciousness.

भूतसंधान— by the energy of this इच्छा शक्ति: this type of yogi will do भूतसंधान— i.e. he will concentrate on some particular person who is sick, having pain, sufferings, etc. By focussing his will he(yogi) will alleviate that particular person's pain, etc.

भूत पृथक्त्व— It is destined that a particular person has to suffer for some years, but by the energy of this इच्छा शक्ति: this type of yogi can separate that sufferings from particular person's body and can keep that locked in a box.

विश्वसंघट्टा:— the power of bringing together everything removed by space and time etc. This type of yogi can enter into the past world and in future world also. All these powers come to him when such type of yogi is able to unite his consciousness with इच्छा शक्ति:।

Literal meaning will be that—

भूत—existent entities, संधान—joining together, भूत पृथक्त्व—separating the existent entities विश्वसंघट्टा:— the power of joining together everything removed by space and time.

भूतानि-शरीर प्राणभावाद्यात्मकानि, तेषां क्वचित् आप्यायनादौ संधानं-परिपोषणम्। व्याध्याद्युपशमादौ पृथक्त्वं-शरीरादेर्विश्लेषणम्। देशकालादिविप्रकृष्टस्य च विश्वस्य संघट्टा:—ज्ञानविषयी कार्यत्वादिकः, अस्य पूर्वोक्त शक्ति संधाने सति जायते। एतत् च सर्वागमेषु साधनाधिकारेषु अस्ति। तदेव स्पन्दे—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।

आच्छादयेत् बुभुक्षां च तथा योजति बुभुक्षितः॥

इति॥

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः।

तदुन्मेष विलुप्तं चेत्कुतः सा स्यादहेतुका॥

इति॥

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि।

भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योग भावितः॥

तथा यत्परमार्थेन येन यत्र यथा स्थितम्।

तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् संप्रवर्तते॥

इत्यादिना विभूतिस्पन्दे सोपपत्तिकं दर्शितम्॥

भूतानि—By भूत we must know that शरीर is भूत, भाव—objects are भूत, प्राण is भूत, तेषां— their, क्वचित्— whenever that yogi, आप्यायनादौ संधानं-परिपोषणं- focusses his will on भूत— a particular person who is dead or who is in heaven or in hell, he can take him from all these worlds and व्याध्याद्युप शमादौ पृथक्त्वं शरीरादेर्विश्लेषणम्— enables him to get rid of that pain of body or just to separate him from that body and देशकालदि०- the world far away by time and space. In that universe also he can enter. This type of yogi can focuss his mind in London and can see what is going on there.

Time is what is already past, ज्ञानविषयी कार्यत्वादिकः अस्य पूर्वोक्त शक्ति संधाने जायते—by aiming or focussing on some object of world by the energy of will described earlier, he gets experience. एतत् च सर्वागमेषु— this is explained in each and every तन्त्र, साधनाधिकारेषु— in the साधना chapters not in सिद्ध chapters. तदेव स्पन्दे— this has been explained in Spandakārikā also दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य योऽति बुभुक्षितः— by taking hold of icchāśakti even a feeble person can climb a hill and who is troubled by the intensity of hunger, he can subside that by focussing the force of इच्छाशक्ति known as Spandāśakti also.

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे— absence of awareness in this body steals away all the wealth of spirituality, तस्यश्चाज्ञानतः सृतिः— this absence of awareness is created by ignorance, तदुन्मेष विलुप्तं चेत्— if you wash off ignorance which is existent in you by spanda – will or unmeṣa (उन्मेष), कुतः सा स्यादहेतुका— where is possibility of that absence of awareness to exist. Again in Spandakārikā— यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः— just an object by ordinary people is not

vividly seen, सावधानेऽपि चेतसि भूयः स्फुटतरोभाति— but when he puts awareness on that he is able to see that vividly, स्वबलोद्योग भावितः— with all the exertion of the will, तथा यत्परमार्थेन-स्थित— in the same way which existed in reality, येन— in whichever form यत्र— in whichever place or time, यथा— in whichever way, संप्रवर्तते— becomes vivid, नचिरात्— immediately, तत्— that thing, तथा— in that very way, बलमाक्रम्य— by resorting to the power of इच्छा शक्ति or Spanda.

इत्यादिनादर्शितं— such powers have been described in Spandakārikā, सोप पत्तिकं— in a well reasoned manner, विभूति स्पन्दे— in the chapter dealing with supernormal powers.

Whenever that yogi focusses his will on a particular person who is dead or who is in heaven etc. he can take him from all these worlds and enables him to get rid of that pain etc. or just to separate him from that body the world, far away by time and space. By aiming or focussing on some object of world by the energy of will he becomes well established in it. This has been explained in Sādhana chapters of each and every Tantra. This has been described in a well reasoned manner in the chapters of Spandakārikā also. In Spandakārikā it is said that just a feeble person by taking hold of icchāśakti can climb a hill and a hungry person can subside his hunger by focussing the force of spandaśakti. Again in Spandakārikā it is said that absence of awareness in this body steals away all the wealth of spirituality. This absence of awareness is created by ignorance if we wash off our ignorance, which exists in us by that icchāśakti, there is no scope for absence of awareness to exist.

Again in Spandakārikā it is explained that just an object is not vividly seen by an ordinary people, but when he puts awareness on that he is able to see that more vividly with all the exertion of the will. On the same way when the yogi resorts to the power of icchāśakti then whatever thing actually exists in whichever form, in which ever place or time, in which ever state, that thing becomes at once manifest in that very way.

Such powers have been described in a well reasoned manner in the chapter dealing with supernormal powers in Spandakārikā.

(To be continued)

CONCEPT OF FULLNESS OR PŪRNATVA IN INDIAN PHILOSOPHY

Dr. Deba Brata Sen Sharma

The Sanskrit word *Pūrṇa* is used in the ancient Sanskrit texts either as adjective or adverb, or as noun. Wherever it is seen used as adjective or adverb, it signifies the meaning 'perfection', 'completion', 'abundance' etc. In philosophical texts, however, the word *Pūrṇa* assumes the form of a philosophical term connotative of the Supreme Reality which is full-in-itself, the Absolute. Since we are here primarily concerned with the use of this expression *Pūrṇa* as a philosophical term used mainly to describe the nature of the Ultimate Reality as an Ontological entity, we propose to confine our study of this concept as it developed in the philosophical texts of different schools of Indian philosophical thought. We would however begin our study by surveying briefly its usage in the Vedic literature, the chief source of inspiration for the development of Indian philosophical thought where this word is used mostly in the form of adjective or adverb.

Surprisingly enough the Vedic Lexicon *Nirukta* lists this word as noun as a synonym of 'Water' (XIV, 11). It is not known why this meaning has been suggested by Yāska as its usage in different Vedic Samhitā and Brāhmaṇas believe this connotation. It is possible that the allusion here has been made to the *Nāsadīya Sūkta* (X, 190) where the seer, while describing the state prior to the manifestation of the multiplicity of the world, says that the universe was submerged under the all-pervasive water. There was water everywhere, the multiplicity of creation remained hidden underneath the water. The world of multiplicity gradually emerged from the water-cover at the time of creation. Here probably the expression water symbolises the all-pervasive Reality which holds within its bosom the multiplicity of the world, it does not refer to the physical element of water.

When we take up the Vedic Samhitā texts like the *Ṛgveda* (I, 154, 1) *Taittirīya Samhitā* (II, 3, 11, 2), *Kāthaka Samhitā* (III, 2, 1), *Atharvaveda Samhitā* to look for the use of the word *Pūrṇa*, we find that this word is used in these texts either as adverb or adjective. For instance in the *Viṣṇu*

Sūkta of the *Rgveda* the word *Pūrṇa* is used as adjective, qualifying the steps of Viṣṇu which are described as full of "honey" i.e. celestial bliss. (यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि). God Viṣṇu is said to cover the entire creation in three steps, and it is for this exploit, he is praised by all in the world (उरुगाय). The symbolic meaning of this feat on the part of Viṣṇu is that he, while providing sustenance to the creation, also fills it up with the bliss oozing out perennially from his highest step lying in the heaven (विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः). This *mantra* is repeated verbatim in the *Taittirīya Samhitā*. The word *pūrṇa*, used as an adjective in the *Kāṭhaka Samhitā* (III, 2, 1), denotes the "fullness of wealth" in quantitative sense. Prajāpati, the lord of creation, is described as full of wealth which diminishes with his creating the world.

(पूर्णे वै प्रजापतिः समृद्धिभि ऊनो व्यद्धिभिः)

The word *pūrṇa* occurs in the *Atharaveda* in several hymns as adjective and noun in different contexts viz. description of moon on full moon night, ritual and the nature of the Supreme Being. The fullness of the moon on full moon night is comprised of sixteen digits (Kalā) which is revealed on the both sides - the Visible front side and the invisible backside. This description of the full moon in the hymn (पूर्णा पश्चाद्भुत पूर्णा परस्तादुन्मध्यते पूर्णमासी जिगाह) suggests the fullness of the Supreme Being who too has two faces, one turned downwards representing his immanent side, and the other looking upward beyond the creation, symbolising his transcendent nature. The reference in the hymn to the victory of full moon in the battle for dispelling the veil of darkness on the full moon night suggests the victory of the self-effulgent illumination of the Supreme Being in dispelling the veil of ignorance from the minds of the individual beings. The seer prays to the Supreme Being for granting him the opportunity for staying in heaven to enjoy the company of gods. In another hymn (X.8.29), the idea of fullness is expressed symbolically in ritualistic language to describe the fullness of the Supreme Being. "Forth from the full he lifts the full the full he sprinkles with full. Now also we may know the source from which it is sprinkled around". (पूर्णात्पूर्णमुदच्यति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते॥).

The *Atharvaveda* thus marks a turning point in the development of

philosophical thought in general and in the use of the word *pūrṇa* expressing philosophical meaning in particular.

It may be mentioned here that the same idea is echoed almost in similar words in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* (V, I, 1) as well as the epistolary verse in the *Īśa Upaniṣad* which we propose to examine in detail in the following paragraphs. The epistolary verse in the *Īśopaniṣad* reads thus -

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

This verse may be freely rendered into English in this manner- "Om, *that* or the Reality is the embodiment of fullness. *This* (visible) world is also of the nature of fullness. From the Reality, the embodiment of fullness, the world which is infinite, emanates. (There after) the fullness nature of the Reality remains as it was before even after the emergence of the world which is fullness embodied". Here in the *Upaniṣad* the word *Pūrṇa* appears to develop into full-fledged philosophical term for the first time connoting the real nature of the Ultimate Reality.

R.D. Ranade in his well known book entitled "*Constructive Survey of the Philosophy of the Upanisads*" has beautifully summed up the spiritual import of the above mentioned verse in these words. "The identification of the *Ātman* with the *Brahman*, of individual spirit with the universal spirit, of the self and Absolute is also proclaimed by epistolary stanza of the *Īśa* and the cognate *Upaniṣads* where, we are told, that the *Ātman* must be regarded the verily the *Brahman*, that the *Ātman* is infinite in nature as also the *Brahman*; that the *Ātman* derives its being from the *Brahman*; that subtracting the infinity of *Ātman* from the infinity of *Brahman*, the residuum is infinite. Thus does the epistolary stanza pile infinities over infinity of the *Ātman* is deducted from the infinity of the *Brahman*, the reminder itself is infinite."

Gopinath Kaviraj in his essay in Bengali while explaining the meaning of the word *Pūrṇa* occurring in this *Upaniṣad* as a synonym of the Supreme Being, has shed light on the spiritual import of this verse which may be reproduced here in a nutshell. He says that this verse

describes the integral nature of the Supreme Reality in terms of 'fullness' which is beyond the grasp of the finite mind of man. The Supreme Reality is always full-in-itself, the one without a second; therefore it is self-subsistant and always independent. It does not suffer from any want or difficiency. It is present everywhere when we look at it from the world point of view, at all times as the embodiment of 'fullness.' It is the locus of both creation and dissolution of the world which is going on eternally due to its innate power, without affecting in the least its integral nature. It is always 'one whole' (*paripūrṇa*). Looking from the level of creation, it has too aspects one which underlies the entire manifestation of the world, as the immanent reality, therefore capable of being apprehended by the finite mind this aspect is denoted by the word *idam* in the *mantra*; and the other aspect which is beyond the reach of the mind therefore indicated by the word *adah* in the *mantra*. As a matter of fact, there is no difference between these two aspects of the nature of the Supreme Reality because what once appears as within the reach of the mind due to its becoming perfect instrument of cognition and the consequent expansion of its capacity may well go out of individual's grasp when the power of mind contract. The Supreme Reality however remains the integral whole at all times. It is immutable and formless, yet appears to be ever changing and having a form, attributeless yet with all attributes, far yet near, all pervasive yet transcendent. All contradictions dissolve in its being and all that emerges from. It is also of the nature of all-inclusive fullness. It can be compared to the *Śūnya* (zero) which symbolises infinity in the field of mathematics. Any addition does not make any change as it remains the immutable infinity. Thus the Supreme Reality Brahman is the integral Fullness which follows from its self-subsistant independent nature.

The *Chāndogya Upaniṣad* while describing the nature of the *Brahman*, uses the word *Pūrṇa* to signify the Supreme Being as the embodiment of fullness. The Upaniṣadic sage notices the similarity between the space (*ākāśa*) existing within the 'heart' of an individual and in the space outside the individual being. Both these spaces existing within and outside the individual being are one and identical and these symbolise his fullness nature and lack of any movement.

यद् वैतद् ब्रह्मेति इदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः....

अयं वाव स योऽयं अन्तः पुरुष आकाशः अयं वाव

स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः तदेतत् पूर्णम प्रवर्ति॥

Chānd. Up. III, 12, 7-9

As the embodiment of 'fullness', the *Brahman* always remains immersed in its integral being. This implies total absence of movement or action. For every action or movement involves change which means deviation from its self-resting state, which is denied in the immutable *Brahman* on account of its 'fullness'. Also movement presupposes the existence of space surrounding the *Brahman*. This is also denied because the immutable *Brahman* is beyond space and time.

The *Taittirīya Upaniṣad* (II, 2-5) mentions the five sheaths covering the self, all appearing as all-pervading and complete by themselves as they hide the all-pervading real self. These layers of sheaths developing out of the essence five elements, namely water, food, vital breath, mind and intellect exist one over the other on the mundane plane. These sheaths or layers must be peeled away, one by one in order to discover the real self, self-shining embodiment of fullness.

Let us now turn our attention from the *Upaniṣads* to the different schools of Indian philosophical thought which developed from the realisations of the Vedic seers and the metaphysical thought of the *Upaniṣadic* sages. But before discussing the concept of fullness or *Pūrṇatva* seen in the metaphysical formulations of the different schools of Indian philosophical thought, let us attempt to identify the conditions or factors conducive to the concept taking roots in the metaphysical thought of these schools. The first and foremost condition favouring the development of the idea of 'fullness' in the conceptualisation of the nature of Reality by a particular school is its belief in non-dualism as the guiding principle in the formulation of its metaphysical thought. The concept of 'fullness' or *Pūrṇatva* is concomitant with the philosophy of non-dualism, hence it is found in the metaphysical thoughts of the school, that subscribe to non-dualistic philosophy. The fullness or *Pūrṇatva* as a philosophical concept is incompatible with the dualistic or pluralistic thought, hence it

has no place in the metaphysical thought of the dualistic Sāmkhya Yoga or the Pluralistic Nyāya-Vaiśeṣika School. Every non-dualistic school postulates one Reality that serves as the locus for the manifestation of the multiplicity of the world. At the same time, the same non-dual Reality is said to be not confined to the manifestation of the world as its substratum, it also transcends the world-manifestation. The fullness nature of such Reality, one without a second, is only a logical corollary to such conceptualisation.

The second precondition that contributes to the development of the concept of fullness constituting the nature of Reality is the particular type of non-dualism accepted by a particular school. Non-dualism advocated by the distinct kinds, one which is based on negation, *neti, neti*, the other based on the affirmation or integration. To illustrate, the *Śāṅkara Vedānta* follow the path of negation. They deny the existence everything else other than the *Brahman*, the sole Reality on the transcendent plane. The fullness of the *Brahman* in their view, is based on negation of all in the one Supreme Reality. Other non-dualistic schools like the *Vedānta* propagated by Rāmānuja, some *Śaiva* and *Śākta schools* base their non-dualistic out-look on affirmation or integration. These schools appear to enlarge their concept of non-dualism by extending as it were, the scope of non-dualism to engulf the multiplicities of the world and then integrate it in the unity of the Ultimate Reality. They regard the Ultimate Reality as expressing itself simultaneously in two forms as the all-pervasive Cosmic Reality and the transcendent Reality, all at once. Their stress on the integration as the core principle in their philosophical thinking is reflected in their concept of 'fullness' or *Pūrṇatva* constituting the nature of the ultimate Reality.

The third factor contributing to the development of this concept is the realistic outlook that some non-dualistic schools are found to profess. These schools look upon the multiplicity of the world as real as the unity of transcendent Reality. In other words they try to integrate the transcendence of ultimate Reality with its all-pervasive and all-inclusive Cosmic nature, regarding these two aspects of its nature as real and co-existent. These schools further hold that the transcendent and the immanent nature of the ultimate Reality are not mutually exclusive aspect but these

represent the two faces of the same Reality, one looking upward and beyond, and the other, visible from the level of the world.

When we apply these determinants or conditions constituting the parameters for the development of the concept of fullness in the conceptualising of the nature of the Reality in the non-dualistic schools, we find the non-dualistic schools of Śāṅkara Vedānta, Viśiṣṭādvaita School of Rāmānuja, Śākta School and the Advaita Śaiva school of Kashmir satisfy these conditions to some extent. The Advaita Vedāntins of Śāṅkara's school postulate three levels of existence of the Reality, technically called the *prātibhāsika level* (illusory level), the *Vyavahārika level* (the phenomenal or the empirical level) and the *Pāramārthika level* (the transcendent level) which exist in hierarchical order as it were with the non-dual *Brahman* serving as the locus (*adhiṣṭhāna*). These levels are mutually opposite in nature, one cancelling the other as one elevates himself through them to reach the final goal, the realisation of oneness with the Brahman. The *Prātibhāsika level* is likened to the dream state in which one experiences objects that are fanciful or imaginary, having no existence in concrete form. The substratum, Brahman then is not experienced as it lies hidden under the thick veil of ignorance. The *Vyavahārika* or phenomenal level is characterised by the experience of multiplicity of the world. There is then no possibility of the experience of the Brahman as the veil of ignorance continues to hide the Substratum, Brahman. When one succeeds in elevating himself to the trans-empirical level i.e. transcendental level of the Brahman through his intense personal efforts in the form of spiritual discipline, the veil of ignorance is removed resulting in the gradual fading one's of the vision of the world of multiplicity. The true self-effulgent Brahman the ultimate Reality shines forth. The spiritual seeker has then direct experience of the Brahman in its true form. The Brahman, who is always full, is realised as such by the spiritual seeker, according to the Advaita Vedānta. The fullness nature of the Brahman is thus based on negative of all that is not Brahman i.e. the multiplicity of the world.

Taking a realist view of the world of multiplicity, the non-dualist school of Vedānta propagated by Rāmānuja admits three realities, namely the *cit* or the Conscious selves, the *acit* or the principle of matter and the

Īśvara the God held together in the unity of the all-enbracing Reality or Brahman by a relation of identity. The *Īśvara* or God is nothing but the *Brahman* in qualified form and he permeate in the two the *cit* and the *acit* constituting the core of their being. Rāmānuja thus takes broader view of Reality, attempting to assimilate and incorporate as it were its different components in the Being of God, called the *Saguṇa Brahman* (the qualified Brahman). Rāmānuja's projections about the nature of *Saguṇa Brahman* appears to be an extension of Upaniṣadic philosophy of non-dualism. The God, being the highest Reality alone is full because nothing exists outside him, the *Sadguṇa Brahman*. If we compare Rāmānuja's concept of fullness with that of Advaita Vedānta of Śankara, we find the latter view about fullness nature of the attribute Brahman to be narrow and truncated as it is quided by negation or denial of every else other than the Brahman.

Let us now turn our attention on the concept of fullness of the ultimate Reality as conceived by the Advaita Śaivites of Kashmir. Being staunch advocates of the non-dualism of integral kind, they believe in the existence of one Reality which they call by various names, as the *Parama Śiva* (Supreme Śiva) *Parameśvara* (Supreme Lord). *Parāsamvid* (Supreme Experiencing Principle). *Caitanya* (Universal Consciousness). *Ātman* (Universal Self) etc. The *Parama Śiva* is said to be endowed with the Śakti which being associated with him, is technically called divine freedom (*Svātantrya Śakti*). The divine freedom is not held to be an adjunct (*upādhi*) or attribute (*guṇa*) of the Supreme Lord but it is said to constitute the essence of his being inalienable from him as the Lord. Exercising his divine Śakti, the Supreme Lord is said to manifest himself out of his free will as the Universe comprised of 36 *tattvas* or levels of creation during the creative phase. When he voluntarily manifests himself as the Universe, he does not remain aloof as a spectator (*Sākṣī*) he participates actively in the display of his glory as the Universe, assuming different roles of limited subjects, objects, and the means for their enjoyment on the different levels of creation. At the same time, he does not forsake his form as the Supreme Lord. He remains beyond his self-manifestation as the Universe as the transcendent Being, the Absolute. Being the Sole Reality and endowed with infinite or unrestricted power

Svātāntrya Śakti. He manifests himself to himself in two forms, namely as the Universal Being in which form he pervades and permeates the entire universe as the immanent Reality, at the same time. He transcends all and remains beyond all in which form he manifests himself as the transcendent being the Absolute. According to the Advaita, Śaivites of Kashmir His self-manifestation in these two forms - the Universal Being and the transcendent Being are not mutually exclusive, one denying the other, but are held to be simultaneous or concurrent. His fullness-nature logically flows from this depiction of his nature.

The Advaita Śaivites stress on the point that there is nothing in the world that is not Śiva. He exists everywhere in different forms when we look at him from the point of view of world at all times as embodiment of fullness, when we look at him as the transcendent Being, he remains the integral whole, as embodiment of fullness. He is immutable yet appears as everchanging in the world, attributeless yet with all attributes, all-pervasive yet transcendent. All contradictions dissolve in his being. He always exists immersed in his being that is of the nature of all inclusive fullness.

Utpaladeva in his *Īśvara-Pratyabhijñā Kārikā* (II, 1, 7 ed) says –

स्वात्मैव स्वात्मना पूर्णं भावा भान्त्यमितस्य तु।

"To the Universal Subject i.e. Parama Śiva, the objects shine as identical with himself, therefore as fullness-nature like the self itself". The author seeks to convey the idea that the Supreme Being is full (*Pūrṇa*), so is he when shines as the object. Abhinavagupta in his *Vimarśini* commentary explains the metaphysical implication of the above passage this way.

अपूर्वापरं हि इदं मूर्तितः क्रियातश्च सर्वं सर्वतः पूर्णम्

"This i.e. the eternal subject is Changeless. He always is perfect i.e. full in all respects in form and action." At another place, Abhinavagupta in his commentary further elucidates the concept of fullness, first by identifying the concept of fullness with the Supreme Śiva, then extending it to all his self-manifestations as the infinite multiplicity. He is one when he has the self-experience as 'Pure I'. He is then self-contained (*Pūrṇa*), resting, in himself (*Svātmaviśrānta*) and beyond all manifestation

(*nirābhāsa*). Later, i.e. subsequently in order to manifest himself as many he first divides, himself into the two—the Pure "I" (*aham*) and the pure "This" (*idam*), both of fullness-nature and also identical in essence. The pure "I" symbolises his form as the subject which in that stage is universal and full in nature, the pure "This" (*idam*) also represents him in the form as the object which too is universal and full in nature in that stage. Later when the Supreme Śiva, exercising his power of divine freedom, voluntarily manifests himself externally in diverse forms of limited subjects, objects etc., He remains the embodiment of fullness, self contained and self-resting (*Svātma-viśrānta*) as before.

Abhinavagupta in his *magnum opus*, the *Tantrāloka*, describes the Supreme Lord this way.

तथा हि स्वस्वतन्त्रत्वपरिपूर्णतया विभुः।
निःसंख्यैर्बहुभिः रूपैर्भक्त्यवच्छेद वर्जनात्॥

"The Supreme Lord, because of his innate freedom of will and Fullness, shines in myriad forms without undergoing any limitation whatsoever in his form," He remains as the Supreme illumination, free from all limitations as ever.

At another place, Abhinavagupta gives a reason for naming the Supreme Reality as *Parama Śiva*.

तावान्मूर्णस्वभावोऽसौ परमः शिव उच्यते।

Tantrāloka (I, 108)

The Supreme Lord is called *Parama Śiva* on account of all Śaktis (numbering twelve) existing as identified with him in him, therefore he is perfect in nature.

Jayaratha explains this saying "पूर्ण सर्वमस्ति सर्वत्र पूर्णमस्ति अन्यथास्य पूर्णतैव न स्यात्"।

"In the full (i.e. the Supreme Lord) everything exists, fullness exists everywhere, otherwise it would be impossible to call him as the Fullness incarnate, Elucidating the implication of the expression - *susampurnam* occurring in the *Parātr̥ṃśikā* (Verse 3), Abhinavagupta in his commentry

says these words -

सर्वतत्त्वैः सुष्ठु अभेदेन सम्यगनपायितया पूर्णत्वम्,
सर्वत्र च परमाणार्वाप यदा समन्तात् भरणं सर्वात्मीकरणम्॥

The Supreme Being exists fully and invariably identified with all the Tattvas. There the fullness nature of the Supreme Being shines when he makes everything in all directions, ever in atoms wholly His own.

The Advaita Śaivite, hold that the attainment of *Śivatva* is the ultimate goal in the spiritual journey of every individual seeker. They name the highest state of spiritual realisation as the attainment of *Bhairavībhāva* (oneness with Bhairva or Śiva nature) when the spiritual seeker experiences himself, the world does not disappear from his view. He finds himself engaged in worldly activity as embodied being and also at the same time, watchful of the Cosmic drama going on from time immemorial as the Spectator. This experience is in the Conformity with their philosophy of integration which is the cardinal point in their metaphysical projections.

When the spiritual seeker reaches this state, he experiences divine bliss. Siddha Somānanda had shed light on the source of the divine delight which, flowing from the fullness nature of the Supreme Being resting in himself (*Svātma Viśrānta*), permeates the entire creation. He says -

स यदाऽऽस्ते चिदाह्लादमात्रानुभवतल्लयः।
तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा॥
सुसूक्ष्मशक्तित्रितय सामरस्येन वर्तते।
चिद्रूप-आह्लादपरमो निविर्भागः परस्तदा॥

Śivadr̥ṣṭi I, 3-4

"When Śiva (the Supreme Being) exists immersed in his conscious-bliss nature, then his powers of will, knowledge and action remain dissolved in his being. When his extremely subtle powers (mentioned above) exist in him held in perfect equilibrium, then his form as conscious-bless is the highest state of his existence, it is the state when there is no emanation from his. This is the state when the Supreme Being rests in his fullness nature, his self-experience remains confined to himself

only, this is the state in which he exists identified with his bliss-nature. This is also called the state of *nivṛttacit*, in which the consciousness nature rests in itself, it is the state of blissful existence. He is then full because he does not feel any want or difficiency. His fullness nature follows from his lacking the experience of any difficiency to fulfill which he needs to move out.

To sum up, the concept of fullness which made its first appearance in the Vedic texts as adjective or adverb developed in the Upaniṣads as connectative of the ultimate Reality, later reached the climax of evolution in the metaphysical thought of the Advaita Śiva Philosophy of Kashmir, passing through the philosophical thoughts of other nondualistic schools of Vedānta.

*This paper was read at an Inter-religions Retreat Seminar
on Śūnya-pūrṇatā and Pleroma,
conducted by Abhiṣiktānand Society of New Delhi
at Sarnath Varanasi from December 11-16, 1999.
Courtesy—Abhiṣiktānanda Society, New Delhi*



आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते।

स वृथा नीयते येन स प्रमादी नराधमः॥

अर्थात् सभी रत्नों को न्यूँछावर करके भी मनुष्य की आयु का एक क्षण भी लौटाया नहीं जा सकता है। ऐसे अमूल्य अनन्त क्षणों की आयु को जो जन व्यर्थ व्यतीत करता है वह ही प्रमादी और मनुष्यों में अधम (नीच) है।

आलस्य—शुभकामों में (दैनिक अभ्यास, पूजा जप आदि) अलसाना आलस्य कहलाता है।

निद्रा—निःशेषेण द्राणं—कुत्सिता गतिः—निद्रा। अर्थात् पूर्ण रूप से कुमार्ग पर चलना निद्रा कहलाती है।

अभिनवगुप्तपाद

AN UNNOTICED OVERSIGHT

Dr. B.N. Pandit

Abhinava Gupta had composed an immensely sweet philosophical hymn eulogizing the divine unity of the Absolute God, Śiva and divine power, Śakti under the little "ŚIVAŚAKTYVINÁBHÁVA-STOTRAM". The hymn as a whole, has not so far become available, or even traced any where, but two sweet verses from it have been quoted by the author himself in his GĪTĀRTHA-SAṄGRAHA commentary on *Bhagavadgītā*. Some how, a gross mistake had crept into the first relation of such commentary. It may have been due to some incorrect reading in the manuscript, used for the purpose of the publication of such commentary and such mistake may have passed on unnoticed by the editor. But it is a wonder that several scholars have been quoting such two verses, but no one among them has, so far even tried to explain them as a whole. The mistake (or missprint), concerned would, otherwise, have been noticed and duly enacted.

A grammatical, or rather syntactical, inaccuracy, crept into the first publication of *Gītārtha-saṅgraha*¹. Such mistake may have been originally committed by some copyist and may have been later followed by the editor, not going deep into such syntactical niceties. It may probably go on like that and I wonder if any writer may take notice of such inaccuracy. The hymn, as a whole, has not so far been available any where. Whatever is available of it, is such two verses alone, quoted by the master himself and came into print under such incorrect reading, not noticed by editor so far. Such reading goes thus:-

तव च काचन न स्तुतिरम्बिके	सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिल-मूर्तिषु मे भवदन्वयो	मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च॥
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे	जगति जातमयत्नवशादिदेम्।
स्तुति-जपार्चन-चिन्तन वर्जिता	न खलु काचन काल-कलापि मे॥

1 The text of such GĪTĀRTHA-SAṄGRAHA deserves a comparison with its text in the edition of *Bhagavadgītā* with eight Sanskrit commentaries not available to me at present.

A minor mistake has crept into the first line of such verse. The correct reading should have been—‘तव न काचन न स्तुतिरम्बिके’, meaning—“There is no such verbal expression which is not an analogy to them, O Mother goddess.” The correctness of such expression is authenticated by the second line concerned, as it says that—all verbal expressions constitute your form.” (सकलशब्दमयी किल ते तनुः).

The next two lines in the same verse, as well as the whole of the second verse, are clearly meant to say—I am finding and worshipping thee in all forms, both the mental and those which proceed externally. The second verse thus as emphasizing the correctness of such statement, is meant to express notification by saying thus—“O Mother goddess Śivā, while I have developed such understanding on my part and while you calmed down all my miseries, something such undescribable has happened to me automatically with in this worldly existence, as the result of which I do not find even a minute fraction of time, left out by the activities aimed at analogizing thee, repetition of thy *mantra* (seeret formula), formal worship to be offered to thee and constant meditation on thy form.

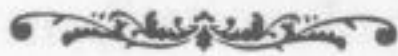
It is an established syntactical rule in Sanskrit expression, that two negative statements, denoted by the indeclinable word 'na' (न), used twice in one and the same context, augment the perfect correctness of the statement of an affirm alive and positive character of the idea concerned. Therefore the correct reading must proceed thus—

“तव न काचन न स्तुतिरम्बिके”, meaning—“No verbal expression is such as is not an analogy to thee, O Mother goddess.”

The reading accepted and propagated by most of the writers on Śaivism is the modern age, proceeding as:-

“तव च काचन न स्तुतिरम्बिके” is not at all correct, as it does not agree with the statements that follow in the close context.

I wonder if scholar may heed to the facts presented above and may use the verse in its correct form.



UNFOLDMENT OF THE DIVINITY

Dr. Neelima

Meditation and concentration are the key to the door of Inner Illumination and constitute the central pivot round which everything in the spiritual field revolves. Dhāraṇā and Dhyāna are the Yoga proper, leading to the consummation, Samādhi and Sākṣātkāra or Realisation. Concentration is centering the mind on one single thought. During concentration the mind becomes calm, serene and steady. The various rays of mind are collected and focussed on the object of meditation. The mind is centered on the Lakṣya. There will be no tossing of the mind. One idea occupies the mind. The whole energy of the mind is concentrated on that one idea. The senses become still. They do not function. When there is deep concentration, there is no consciousness of the body and surroundings. He/She who has good concentration can visualise the picture of the Lord very clearly within the twinkling of the eye. Manorājya (building castles in the air) is not concentration. It is wild jumping of the mind in the air. Do not mistake manorājya for concentration of meditation. Check this habit of the mind through introspection and self-analysis. If you concentrate your mind on a point for 12 seconds, it is Dhāraṇā (concentration). Twelve such Dhāraṇās will be a Dhyāna (meditation) $12 \times 12 = 144$ seconds. Twelve such Dhyāna's will be Samādhi - 25 minutes and 28 seconds. Concentration may also be directed on the mental image of God. The practice of concentration and the practice of Prāṇāyāma are interdependent. If you practise Prāṇāyāma you will get concentration. Naturally Prāṇāyāma follows the practice of concentration. There are different practices according to different temperaments. For some the practice of Prāṇāyāma will be easy to start with; for others the practice of concentration will be easy to begin with. When there is deep concentration you will experience great joy and spiritual intoxication. You will forget the body and the surroundings.

Prāṇāyāma or control of breath removes the veil of Rajas and Tamas that envelop Sattva. It purifies the nerves (Nāḍis). It makes the mind firm and steady and thereby renders it fit for concentration. The dross of mind is cleansed by Prāṇāyāma just as the dross of gold is got rid of by melting.

When you study a book with profound interest, you do not hear if a man shouts and calls you by your name. You do not see a person when he stands in front of you. You do not smell the sweet fragrance of flowers that are placed on the table by your side. This is concentration or one-pointedness of mind. The mind is fixed firmly on one thing. You must have such a deep concentration when you think of God or the Atman. It is easy to concentrate the mind on a worldly object, because the mind takes interest in it naturally through force of habit. These grooves are already cut in the brain. You will have to train the mind gradually by daily practice of meditation on God, or on the Self within. The mind will not move now to external objects as it experiences immense joy from the practice of concentration.

There are different kinds of meditation. A particular kind is best suited to a particular mind. The kind of meditation varies according to taste, temperament, capacity and type of mind of the individual. A devotee meditates on his Iṣṭa Deva. A Rāja Yogi meditates on the Cakras and their presiding deities. A Jñānī meditates on his Self or Atman. You will have to find out yourself the kind of meditation that is suitable for you. If you are not able to do this, you will have to consult your preceptor who is your guide. He will be able to know the nature of your mind and the correct method of meditation for you.

The mind assumes the form of the object it cognises. Then only perception is possible. A Bhakta constantly meditates on the form of his Iṣṭa Deva. The mind always takes the form of the Deity. When he is established in his meditation, when he attains the stage of Parā Bhakti or Supreme devotion, he sees his Iṣṭa Deva only everywhere. Then names and forms vanish. A devotee of Lord Kṛṣṇa sees Lord Kṛṣṇa only everywhere and experiences the state described in the Gītā "Vāsudevaḥ Sarvam Iti—Everything is Vāsudeva (Kṛṣṇa) only." A Jñānī sees his own Self or Ātman everywhere. The world of names and forms vanishes from his view. He experiences the truth that "Sarvam Khalvidam Brahma—All indeed is Brahman."

There are two kinds of meditations, viz., Saguna (concrete) meditation and Nirguṇa (abstract) meditation. In concrete meditation the Yogic

student concentrates on the form of the Lord Kṛṣṇa, Rāma, Śiva, Hari, Gāyatri or Śrī Devī. In abstract meditation he concentrates the whole energy of the mind on one idea of God or Ātman and avoids comparisons of memories and all other ideas. The one idea fills the whole mind. When you see the concrete figure of Lord with open eyes and meditate, it is the concrete form of meditation. When you reflect over the image of Lord by closing your eyes, it is also concrete form of meditation but it is more abstract. When you meditate on the infinite, abstract light it is still more abstract meditation. The former two types belong to Saguṇa form of meditation, the latter to Nirguṇa form. Even in Nirguṇa meditation there is a concrete form in the beginning for fixing the mind. Later on, this form vanishes and the meditator and the meditated become one.

Saguṇa meditation is a concrete form of meditation for people of devotional temperament. This is meditation with Guṇas or attributes of God. Repeat the name of the Lord. Think of His attributes, Omniscience, Omnipotence, Omnipresence, etc. your mind will be filled with purity. Enthrone the Lord in the lotus of your heart amidst a blazing light. Mentally think of His feet, legs, chest, head, hands and the ornaments and dress and again come to His feet. Again and again repeat this process. Śrīmad Bhāgavatam says about suguṇa Bhakti in the following verse:-

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रत् वासः कनक कपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधर सुधया पूरयन्गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशत् गीतकीर्तिः॥

This is an example of Suguṇa meditation. Lord Śrī Kṛṣṇa has been depicted in a supreme dancer form having a crown of beautiful peacock feathers, 'कनेर' flowers as ornament of his ears, wearing golden coloured garments and necklace of Vaijayanti flowers on his chest (vaijayanti flowers are those flowers which do not get withered by the changing of seasons) filling up the holes of flute by the nectar of his lips, acclaimed by cow boys, Lord Kṛṣṇa made his entry in Vrindavana which had turned charming by his foot steps. You have to concentrate on this suguṇa form of Lord Kṛṣṇa continuously you will automatically become one with that.

Imagine that there is a fine garden with lovely flowers. In one corner there are beautiful cabbage-roses. In the second corner there is the "lady of the night". In the third corner there are Campaka flowers and in the fourth, Jasmine. First meditate on Jasmine. Then take the mind to the Campaka, then to the "lady of the night" and finally to the rose. Again rotate the mind as above. Do this again and again for 15 minutes. Gross meditation like this will prepare the mind to finer abstract meditation on subtle ideas. Have the figure of Sadguru in front of you. Concentrate on this. Do Trātaka also with open eyes (steady gazing without winking, till tears flow profusely). This is both Saguna and Nirguna meditation (with and without attributes). Be sincere and regular in your daily routine, अभ्यास—Abhyāsa. The Sādhana will take care of itself otherwise there is no way of coming out of this worldly ocean. The Commentator of Abhinava gupta's magnum-opus "Tantrāloka". Ācārya Jayaratha says- "नास्य मूढजनस्य संसारार्णवादुत्तारः स्यात्—तदन्तरेव उन्मज्जन निमज्जानुभवस्याविच्छेदात्॥"

You should remember that diseases are generated in the body through sleeping in daytime, late vigils overnight, moving in crowd, the checking of the urine and the excreta, the evils of unwholesome food not observing regular food habits, laborious mental work, lack of regular exercise, etc.

For an aspirant 'सात्त्विक आहार' is very important. About 'सात्त्विक आहार' Śrī Gītā Ji prescribes —

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।

रस्याःस्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारः सात्त्विकप्रियाः॥

An aspirant of सात्त्विक nature always consumes the eatables having excellent qualities of promoting life span, growth, physical strength, healthiness, having pleasant look, and are tasty, attractive, oily (full of ghee) and source of strength. This body is an instrument for attaining God-realisation. If you do not possess good health, you cannot do any rigorous Yoga-practice and meditation. Therefore keep this body healthy and strong by regular exercise, practice of Āsanās and Prāṇāyāmas, sun-bath, fresh air, cold bath and सात्त्विक आहार etc.

Please remember as you do not leave your food even for a day, so also you should not leave your spiritual practice even for a day. The mind is

ever ready to deceive you and stop you from the practice of meditation. Do not hear the voice of the mind. Hear the sweet voice of the soul. Meditation itself is a tonic, and a panacea for all diseases. If you are seriously ailing you can do Japa and light meditation even while lying on the bed.

Some people in whom the reason has developed have got the habit of entering into unnecessary controversies and discussions. They have got Tārkika Budhi. They cannot remain quiet even for a second. They will create opportunities for heated debates. Too much discussions end in enmity and hostility. Much energy is wasted in useless discussions.

So avoid this type of discussion always. Thus unfold the Divinity that is lurking in your heart by concentration and meditation. Do not waste your time. Do not waste your life.

Some aspirants have got the habit of wandering aimlessly. They cannot stick to one place even for a week. The wondering habit must be checked. They want to see new places, new faces and want to talk with new people. A rolling stone gathers no moss. A Sādhaka should stick to one place at least for a period of twelve years (one Tapas period). If his health is delicate, he can stay for six months in one place during summer and rainy seasons and in another place for six months during winter. Those who want to do rigorous Sādhanā must stay in one place.

The aspirant is very enthusiastic in his Sādhanā in the beginning. He expects to get some results or Siddhis. When he does not get these results, he gets discouraged. The aspirant should know how to coax the mind on such occasions and to extract work from it by a little relaxation of mind. The cessation of Sādhanā is grave mistake. Spiritual practices should never be given up under any circumstances. Evil thoughts will be ever waiting to enter the gates of the mental factory. As is said by Abhinavaguptapāda:—

एवं चित् भैरवावेश निन्दा तत्परमानसाः
भवन्ति अति सुघोराभिः शक्तिभिः पातिता यतः॥

Evil forces are ever ready to haunt the mind of an aspirant, who is on

the right path. They deviate him and merge him completely again in worldly affairs. So an aspirant should remain overcautious and should not allow evil thoughts to control his mind. It is said:—

विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून्।

These fearful energies namely 'घोरातरी' push an aspirant downwards again and again and engross him in worldly attractions. Intellect is a help if it is used in the right direction of Ātmic Vicāra. Intellect is a hindrance if it is used in unnecessary discussions. Intellect takes the aspirant to the threshold of the existence of God and finding out suitable methods for Self-realisation. Abhinavagupta says in तन्त्रालोक :—

ततः स्फुटतमोदार ताद्रूप्य परिबृंहिता।

संविदभ्येति विमलामविकल्प स्वरूपताम्॥ (आह्निक IV-VI)

Then purest, great and augmented by the union of self realisation, the Samvida Devi, known as supreme consciousness, attains the flawless-avikalpa Svarūpa- thought less form.

There is no reasoning in स्वरूप लाभ. Reasoning concerns matters of the physical plane. Transcendental matters are beyond the reach of reason.

Lastly, it is advisable for all the seekers of truth that they should strictly avoid the company of those who speak lies, who commit adultery, theft, cheating, double-dealing, who are greedy, who indulge in idle talks, backbiting, talebearing, who have no faith in God and in the scriptures, etc., and who have no respect for विद्यागुरुः ।



IMPORTANCE OF ŚRĪ RUDRA CAMAKAM

Prof. M.L. Kukiloo

‘श्रीरुद्रचमकं’ known as ‘रुद्रमन्त्र चमानुवाक’ in Kashmir, occupies an important place in our daily practice of meditation and in our routine worship etc. It is treasured in the centre of Taittiriya Samhita (तैत्तिरीय संहिता)। The ancient seers have chosen it in one of the fine scriptural texts and have laid stress for its daily repetition and meditation. It is known as Rudropaniṣad (रुद्रोपनिषद्) as it ranks with the upaniṣads of the ज्ञानकाण्ड. It is called ‘शतरुद्रियम्’ (Śatarudriyam) also because it is seen in all the one hundred and one ‘शाखा’ (Śākhās) of यजुर्वेद. By the chanting of ‘श्रीरुद्रचमकं’ with devotion an aspirant is blessed with भुक्ति (enjoyment of life) and मुक्ति (freedom from the ills of the world). By reciting श्रीरुद्रचमकं all the deities of the world are pleased just like all the branches of the tree get nourished by pouring water at its root. As is said,

शिवे रुद्रजपात् प्रीते प्रीता एवास्य देवताः।

वृक्षस्य मूलमेकेन शाखाः पुष्प्यन्ति वै यथा॥

For attaining all the desired objects and for atonement of all sins ‘श्रीरुद्रचमक’ is the only medicine. As is said that रुद्राध्यायीमुच्यते सर्वपापैः। There are three hundred नमस्कार (salutations) in Sri Rudram. He is beyond and behind all forms of divinity as well as all human and sub-human beings. It is said –

यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो वनस्पतिषु।

यो रुद्रो विश्वा भुवनाविवेश तस्मै रुद्राय नमो अस्तु देवाः॥

“O deities! let our salutations go to the Rudra. Who is in fire, who is in water, who is in trees, plants, herbs and who has entered into this whole cosmos.”

It is heartening to note that in श्रीरुद्रचमकं obsecrations are offered to all without any distinction. Śri Rudra is said to be present in those who are old and young, who are awake and asleep, who run and who stand, who is up and who is low. He is in the blacksmith, in the carpenter, in the potter,

in the hunter, in the King and in the thief. The cowboys (गोपा) and the water carriers (उदहार्यः) see him. All the people of the world (विश्वाभूतानि) observe Him. On seeing Him we get thrilled with joy. As is said –

उतैनं गोपा अदृशन् उतैनमुदहार्यः।

उतैनं विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः॥

The recitation of 'श्रीरुद्रचमकं' is highly euologised :-

‘चमकं नमकं चैव पौरुषसूक्तं तथैव च।

नित्यं त्रयं प्रयुञ्जानो ब्रह्मलोके महीयते॥

An aspirant reciting चमकं (चमे चमे) नमकं (नमः नमः) and the पुरुषसूक्तं daily is being worshipped in the Brahmaloaka. The Rudram abounds in the word नमः, that is referred to by नमकं, ‘God grant me this and this’, is referred by चमकं in Rudram, चमकं means चमे चमे and the third is पुरुषसूक्तं, the highest philosophical hymn of Rigveda. Besides, रुद्रएकादशी – the praises of Rudra in Eleven Anuvaka Yajurveda, is supreme. This very रुद्रएकादशी abounds in ‘श्रीरुद्रचमकं’. As is said that the vedas are the supreme in the sources of learning and रुद्रएकादशी is supreme in the vedas – विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ”। While most of the rituals relating to the other deities stand limited to the desired purpose, but Rudram is meant for varied purposes. Because of this peculiarity ‘श्रीरुद्रचमकं’ is used for the Vedic and Āgamic worship or Homa (होम) of Śiva in all the temples and households. Our venarable Sadgurū Mahārāj used to recite Śri Rudra camakam on all important functions. He used to enter in supreme godconsciousness immediately while reciting Śri Rudra camakam with full awareness. It is said that श्री रुद्रचमकंसद्यः, साक्षात्कार फलावहम्। It is not out of place to mention here that my holy forefathers also used to recite Śri Rudracamakam daily while performing Nitya pooja etc. They would describe its unending greatness and would treat it as panacea for all ills. When the Sage याज्ञवल्क्य was requested to state the जप by which an aspirant gets immortality he replies that by the repetition of ‘श्रीरुद्रचमकं’ a seeker is sprinkled by the nectar and becomes immortal thereby. According to

Kaivaiya Upanishad, he who recites 'श्रीरुद्रचमकं' gets cleansed of all sins – physical and mental as if by fire – 'श्री रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः'।

It is 'श्रीरुद्रचमकं' by which one acquires that knowledge which soaks the sea of संसार. Frightened by death when a man prays Rudra, He saves him and confers immortality on him, because Rudra is the terribly powerful God. He is destroyer of time and death. He is कालकालः. He confers अभयं – fearlessness to his votary. Rudra is present in all things – movable and immovable in the world. Hence to pay obeisance to Rudram is to pay obeisance to one and all. He is ओषधीनांपतिः – Lord of herbs. In बहुरूप गर्भस्तोत्र also Rudra is said supreme amongst all. रेवद्वराय रुद्राय. He is praised for having various forms "नमस्ते रूपरूपिने"। He is extolled for having the whole universe within Himself "भरिताखिलविश्वाय" Infact बहुरूपगर्भस्तोत्र is the powerful discription of myriad forms of Śrī Rudra. Of all the colours the green is favourite of Rudra. The tender green of the grass and tall trees with their high tops are nothing else than Lord Rudra. It is said that 'Rudra' is the grassy meadows with the sheen of the tender grass and the pathways trodden on them. Śrī Rudra is called पशुपतिः an important one in Śaiva philosophy. All things from Brahma down are described as, पशु – Paśus. The Lord of the universe is styled as Paśupatih. Rudra stands in the form of this samsāra. He binds all creatures by the ropes of this samsāra, which are treated as Paśus and Rudra is their Pati - Lord – hence, Paśupatih. He also unites His devotees and qualifies them to get freed from this samsāra. It is said 'नमो भवस्य हेत्यै' – salutations unto Him, the axe that cuts the tree of samsāra. Rudra is said हरिकेशाय – means his hair ever remains dark. Time and age are beyond his reach. He is the eternal youth. Rudra is everywhere and protects all. He stands in the trees and protects them. He is Lord of enviornment. He is the architect or builder of houses. He is gracious to good speakers, wise men, ambassadors and lives in their forms. It is said, – नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमः। – Rudra is not only the warrior on the battlefield but even more He is the counsellor of assemblies. Rudras are in the form of those who sit as members of

assemblies and parliaments (M.L.A.s and M.P.s) and those who preside over them.

Thus Śrī Rudra Camakam praises the various forms assumed by Rudra. Lordship of Rudra over activity qualities or nature, things and materials is set forth. He is treated as the self of all. The Rudra and Camakam, which are always coupled, are some of the foremost examples in the art of prayer. Camakam is especially one of the most musical and popular prayer in the Vedas. The Rudram and Camakam are mainly intended for the afflicted, seekers after knowledge, seekers of wealth and pleasure and the Jñānī or the wise men. All the good things of earth are stored in Camakam. We are asked that better than the pleasures of this world are those of the svarga (स्वर्ग). Hence, extend the prayer thus – “Let me get this thing and that (चमे चमे) but let it be यज्ञेन कल्पताम् i.e. let me get them along with several sacrifices so that I can understand the secrets”. Sacrifice (यज्ञ) can help in attaining mokṣa (मोक्ष) liberation and can help to dwell in eternal happiness. It is said यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्। i.e. may the sacrifices prove complete in every respect. It is pertinent to mention here that Rudra is the one God and रुद्रगण are the creation of his numberless powers and glory. Śrī Rudra carries all worldly activities through these रुद्रगण since they are every where we bow them, we pray them by mind. Speech and actions. our respected Sadguru Mahārāja would always recite the following Rik of veda:-

सहस्रधा सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्।

तेषां सहस्रयोजनेव धन्वानि तन्मसि॥

"Those Rudras who line on the earth in thousands, we shall cause the strings of their bows to be loosened, and the bows themselves to be deposited numberless kilometers far away from us." We should also follow our beloved master and recite daily these 10 Riks starting from सहस्रधा to य एतावन्तो व भूयांसो दिशो रुद्रा वितिष्ठिरे for removing all obstacles worldly and spiritually. Let Lord Rudra protect us all.

विज्ञानभैरव-समीक्षात्मक अध्ययन

मूल प्रवचनकार— शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू महाराज

भाषानुवाद—प्रो० मखनलाल कुकिलू

(गतांक से आगे)

सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात्

दृढबुद्धेर्दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते ॥५०॥

(अन्वय—सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात् दृढबुद्धेः (योगिनः) दृढीभूतं तत्त्वलक्ष्यं प्रवर्तते।)

हर तरफ से शरीरस्थित द्वादशान्त में मन की वासनाओं के नष्ट हो जाने से दृढ़ बुद्धि वाले (योगी का) मन एकाग्रता की ओर दृढ़ होता जाता है और फिर उसके मन में पर तत्त्व का प्रकाश प्रवर्तन में आता है अर्थात् पर तत्त्व प्रकाश से मन प्रकाशित हो जाता है। अर्थात् यदि एक साधक का मन द्वादशान्त में लीन होता है या उस पर एकाग्रबुद्धि से अभ्यास द्वारा स्थिर होता है तथा शरीर भी उसका हर तरफ से शून्य होता है तो उसे दृढ़बुद्धि से परतत्त्व प्रकाश दृढीभूत होके प्रकाशित होता है।

मानिये कि आपके शरीर में हर तरफ से सारे रोमकूप (pores) और मिलान बिन्दु कुछ नहीं हैं अपितु निरा खालीपन हैं। दो भौंहों के मध्य में भी यही शून्यता है। मानिये कि जो शून्यता आपने दो भौंहों के मध्य में भांपी है वही शून्यता आपके शरीर के प्रत्येक रोमकूप में भी है। आपने यह कुछ देर के लिए विचारना है और आपका मन भूमध्य की इसी शून्यता में एकाग्र होके लीन हो जाना चाहिए। भूमध्य में अनुभूत अवस्था का अनुभव शरीर के प्रत्येक रोम कूप में भी हर तरफ से, दृढ़ बुद्धि के साथ करना चाहिए। उस के उपरान्त ही परतत्त्व प्रकाश आलोकित होता है।

यह निरा शाक्तोपाय है।

इस धारणा में प्रत्येक क्रिया में अपने मन को द्वादशान्त पर लीन करना होता है।

यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत्।

प्रतिक्षणं क्षीण वृत्ते वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ॥५१॥

(अन्वय—यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते प्रतिक्षणं मनः क्षिपेत्। (इत्थं) क्षीण वृत्तेः अस्य दिनैः वैलक्षण्यं भवेत्॥)

साधक योगी अपने मन को प्रतिक्षण किसी भी प्रकार से और जहां कहीं द्वादशान्त

पर एकाग्र करने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से उसके मन की विविध वृत्तियां तथा चंचलतायें कुछ ही दिनों में शान्त हो जायेंगी और वह अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त करेगा।

स्वामी जी महाराज का आदेश है कि भ्रमण करने के समय, बातें करने के समय, घरेलू कामकाज के समय अथवा अन्य कोई साधारण कार्य करने के समय अपने मन को द्वादशान्त पर एकाग्र करे। हमारा मन द्वादशान्त पर एकाग्र होने की अवस्था का, दैनिक कार्यकलाप के प्रत्येक कर्म में, अनुभव करे। पर इसका अनुभव निरन्तरता से होना चाहिए।

प्रतिक्षणं—हर समय अर्थात् निरन्तर रूप से।

यह आणवोपाय की धारणा है जो शाम्भवोपाय की ओर जाती है।

एक शिष्य के पूछने पर कि द्वादशान्त स्थान की उपलब्धि कैसे संभव है? तो स्वामी जी महाराज का निर्देश है कि आंखों पर ऐनक लगाने से लेकर पुस्तकाध्ययन तथा प्रवचन के अन्त तक एवमेव अन्य दैनिक कार्य-कलापों के आरम्भ से लेकर समाप्ति तक द्वादशान्त पर एकाग्रचित्त होके रहना चाहिए। इस अवस्था को निरन्तररूपता से अपनाना चाहिए। ऐसा करने में यदि आप सफल होंगे तो महीनों में नहीं, कुछ ही दिनों में आप नये जन्म को धारण करेंगे।

वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत्—श्लोक के इस अन्तिम चरण का पाठान्तर इस प्रकार है—वैलक्षण्यं क्षणैः भवेत् अर्थात् विलक्षणता या असाधारण अवस्था का अनुभव कुछ ही क्षणों में होता है। यहां दिनों की प्रतीक्षा करने के स्थान पर कुछ क्षणों के लिए ही द्वादशान्त पर एकाग्रचित्त रहने से परभैरव स्वरूप का अनुभव होता है।

इस प्रकार कुछ क्षणों के अनन्तर ही अर्थात् केवल १५ क्षणों के पश्चात् ही, दैनिक कार्यकलाप करते करते, नवीन जन्म को साधक पाता है।

द्वादशान्त—जिस स्थान पर प्राणापान की गति की उत्पत्ति होती है वह हृदय कहा जाता है। जहां जाकर वह गति रुक जाती है उसे द्वादशान्त कहते हैं। द्विषट्कान्त, मुष्टित्रयान्त, तथा शिखान्त ये द्वादशान्त के पर्यायवाची हैं। तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने द्वादशान्त पद का अर्थ ऊर्ध्व द्वादशान्त किया है जिसकी स्थिति शिखा के अन्त पर है। इसी लिए शिखान्त शब्द द्वादशान्त का पर्यायवाची है। द्वादश-बारह, आधारों के अन्त में होने से ही इसे द्वादशान्त कहते हैं। इसी द्वादशान्त पर प्रणव (ऊँकार) की बारह कलाओं—‘अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना’ में से अन्तिम कला उन्मना में जब निर्विकल्प योगी पहुंचता है तो वह अनुत्तर शून्य में विलीन होता है, उसे सर्वात्मता का विकास होता है। इसी को कई तन्त्रों में ‘महाबिन्दु’

की संज्ञा दी गई है। इसी महाबिन्दु का दूसरा नाम 'निष्कल' है। इसी निष्कल स्वरूप में महात्रिपुरसुन्दरी रहती है जिसे पराशक्ति भी कहते हैं जिस की सहायता के बिना "शिव" शिव (प्राणहीन) रहता है। कई साधकों ने द्वादशान्त को दो रूपों में-शक्ति द्वादशान्त और शिवद्वादशान्त और कई साधकों ने इसे चाररूपों में समझाया है।

कालाग्निना कालपदात् उत्थितेन स्वकं पुरम्।

प्लुष्टं विचिन्तयेत् अन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत्॥५२॥

(अन्वय—कालपदात् उत्थितेन कालाग्निना स्वकं पुरं प्लुष्टं चिन्तयेत् तदा अन्ते (स योगी)शान्ताभासः भवेत्॥)

कालपद—दक्षिणपाद के अंगूठे से उठती हुई कालाग्नि की ज्वाला से अपने शरीर को पूरी तरह से भस्म होने की भावना करे। फिर इस धारणा के अन्त पर साधक सभी मलों (दोषों) से मुक्त होकर अपने शान्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

यह शाक्तोपाय की धारणा है जो शाम्भवोपाय की ओर साधक को लेती है।

एक शिष्य के पूछने पर कि क्या यह आणवोपाय नहीं है? तो स्वामी जी महाराज उसकी जिज्ञासा को यह कहकर शान्त करते हैं कि यदि एक व्याख्याकार ने इस धारणा को शुद्ध आणवोपाय कहा है पर मेरी राय में यह आणवोपाय नहीं है। यह शाक्तोपाय विधि है जो शाम्भवोपाय की ओर लेती है।

कालपदात्—दक्षिण पाद के अंगूठे से।

कालाग्नि—चिन्मय मूर्तिमान अग्नि दक्षिण पाद के अंगूठे से ही उठती है। आपने यह मानना है कि आप का सारा शरीर जलकर राख हो चुका है इस कालाग्नि से। कहा भी है—

कालाग्निरुद्रात्प्रसृतं च तेजो

भूरिस्फुटं दीप्ततरं विचिन्त्यम्॥

स्वकं पुरं—आपका शरीर। पुरं शरीर का दूसरा नाम है।

प्लुष्टंविचिन्तयेत्—सारा भस्म हुआ मानिये।

अन्ते—अन्त पर।

शान्ताभासस्तदा भवेत्—परमशिव का शान्त स्वरूप प्रकट होता है या प्राप्त होता है।

एवमेव जगत्सर्वं दग्धं ध्यात्वा विकल्पतः।

अनन्यचेतसः पुंसः पुंभावः परमो भवेत्॥५३॥

(अन्वय—एवमेव सर्वं जगत् विकल्पतः दग्धं ध्यात्वा अनन्य चेतसः पुंसः (योगिनः) परमः पुंभावः भवेत्॥)

दाहिने पैर के अंगूठे से उठी कालाग्नि की ज्वाला से अन्दर और बाहर विद्यमान नामरूप वाले सारे पदार्थ जलकर राख हो गये हैं, तो ऐसी धारणा में लीन एकाग्रमन वाले निर्विकल्प स्वभाव साधक के हृदय में परम पुंभाव प्रकट होता है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट भैरव स्वरूप का साक्षात्कार होता है॥

यह विकल्पाश्रित धारणा है अर्थात् यह धारणा imagination (संभावना) पर आधृत है। हमें यह मानना है कि सारा संसार भस्मीभूत है और यही भावना समाहितता में स्थित होनी चाहिए।

अनन्य चेतसः पुंसः—यह धारणा एकतान होनी चाहिए यह स्थगित नहीं होनी चाहिए। यह खण्डशः नहीं होनी चाहिए।

किसी शिष्य के पूछने पर कि क्या यह धारणा दैनिक क्रियाओं में तथा चलने फिरने के समय भी रहनी चाहिए या केवल साधना में ही? स्वामी जी महाराज कहते हैं कि अभ्यास करते करते यह समझना है कि यह सारा जगत् जलकर राख हो गया है तभी परम प्रकाश रूपता प्रकट होती है।

परमः—सर्वोत्तम या सर्वोत्कृष्ट।

पुंभावः—अपरिमित प्रमाता के रूप में वर्तमान भैरव का स्वरूप

भवेत्—प्रकट होता है।

आपने यह मानना है कि सारा जगत जलकर राख हो गया है और यह धारणा कभी सच्ची होगी जैसे हम कहते हैं कि काश यह सपना सच्चा निकल आये। यह भावना फिर विकल्पात्मक न रहकर अस्तित्व में आयेगी।

एक प्रकार से यहां ५२ श्लोक में बताई गई धारणा का ही पुनरंकन है। अन्तर इतना है कि उसमें अपने शरीर को जलकर भस्मीभूत होने की क्रिया है पर प्रस्तुत श्लोक में देह के भीतर और बाहर वर्तमान सारे जगत के पदार्थों के भस्मीभूत होने की प्रक्रिया बताई गई है॥

क्रमशः

जगत् सृष्टि—शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित

यह सारा ब्रह्माण्ड शिव की शक्तियों का बहिर्मुख प्रतिबिम्ब है। इस की सृष्टि शिव से ही हुआ करती है और उसी की इच्छा के बल से हुआ करती है। शिव स्वयमेव ब्रह्माण्ड के रूप में प्रकट होता है, परन्तु ऐसा होते हुए भी उसके वास्तविक शुद्ध संविदात्मक स्वरूप में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं आता है। वह सदैव परिपूर्ण चिद्रूप ही बना रहता है। सारा ब्रह्माण्ड शिव के ही भीतर सदैव विद्यमान रहता है। परन्तु उस तरह से नहीं रहता है, जिस तरह से गृहस्थी की सामग्री और घर के सदस्य घर के भीतर रहते हैं। यह सारा जगत् शिव में उस तरह से रहता है, जिस तरह से एक सुविशाल बड का वृक्ष बाहर उगने से पहले छोटे से बीज में विद्यमान रहता है। फिर दोनों में अन्तर इतना है कि बीज में यह सामर्थ्य नहीं कि पूरे वृक्ष को स्वयमेव बिना किसी बाह्य पदार्थ की सहायता के बाहिर प्रकट कर सके। फिर बीज यह नहीं जानता है कि वृक्ष उसके भीतर सूक्ष्म रूप में विद्यमान होता है। बीज में से वृक्ष को बाहिर प्रकट करना हो तो कुछ और साधनों की सहायता आवश्यक होती है। तो बीज को भूमि की, भूमि में नमी की, भूमि की अनुकूलता की, वायुमण्डल में आवश्यक गर्मी की और बोने वाले के यत्न की आवश्यकता होती है, तब कहीं बीज पौधे को जन्म देता है। शिव को इस बात का ज्ञान होता है कि समस्त विश्व उसमें सदैव विद्यमान रहता है। साथ ही शिव में यह सामर्थ्य है कि बिना किसी की सहायता या सहयोग के वह जगत् की सृष्टि कर सकता है। फिर उसमें यह स्वातन्त्र्य भी होता है। कि सृष्टि करे या नहीं करे, इस तरह से करे या किसी और तरह से करे। कब करे? जब चाहे तब करे। कैसे करे? जैसे चाहे वैसे करे। तात्पर्य यह है कि बीज में रहने वाली शक्ति को फल देने में कई एक अन्य पदार्थों के सहयोग की आवश्यकता होती है, परन्तु शिव को किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती है, वह जब चाहे तब विश्व सृष्टि कर सकता है, फिर जैसे चाहे वैसे कर सकता है और बिना किसी के सहयोग के कर सकता है।

बीज में से पौधे की जो उत्पत्ति होती है, वह परिणाम न्याय से होती है। बीज भूमि आदि के सहयोग से अङ्कुर वृद्धि को प्राप्त करता हुआ वृक्ष के रूप को धारण कर जाता है, परिणाम न्याय से ही। शिव को जगत् के रूप में प्रकट होने में अपनी स्वभावभूत पारमेश्वरी शक्ति को छोड़कर किसी भी अन्य पदार्थ के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती है। वह स्वयमेव जब चाहे तब और जैसे चाहे वैसे, विश्व की सृष्टि कर सकता है। फिर यह विश्व सृष्टि परिणाम न्याय से नहीं होती है, अर्थात् शिव संसार के रूप में बदल नहीं जाता है। वह सदैव शिव ही बना रहता है। तो शिव से जगत् सृष्टि किस न्याय से हुआ करती है? इस प्रश्न के उत्तर

में सिद्धजनों की अनुभूति के आधार पर निश्चयतः यह कहा जा सकता है कि शिव से विश्वसृष्टि प्रतिबिम्ब न्याय से हुआ करती है। इस बात का तात्पर्य यह है—

समस्त विश्व शिव के भीतर शिवरूपतया, अथवा यह समझिए कि शिव की पारमेश्वरी शक्ति के रूप में, सदैव विद्यमान रहता है। बीज में भी पौधा बीज की शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है; परन्तु अन्तर यह अवश्य है कि बीज को ऊपरोक्त सहायक साधनों की आवश्यकता रहती है, जब कि शिव सर्वथा स्वतन्त्र है। विना किसी सहयोगी कारण की सहायता के स्वयमेव ब्रह्माण्ड के रूप को धारण कर सकता है और करता रहता है। बीज से पौधे की सृष्टि जो होती है तो बीज में विकार आता है। बीज अङ्कुर के रूप में और अङ्कुर पूरे पौधे के रूप में बदल जाता है। शिव से जगत् की सृष्टि के होते रहने पर भी शिव-शिव ही बना रहता है, उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं आता है। तो जगत् सृष्टि कैसे होती है ?

सृष्टि प्रतिबिम्ब न्याय से हुआ करती है। शिव के भीतर सारे का सारा ब्रह्माण्ड उस तरह से विद्यमान रहता है, जिस तरह से बीज के भीतर पूरा वृक्ष विद्यमान रहता है। वृक्ष बीज में बीज की अपनी शक्ति के रूप में सदा विद्यमान रहता है। अन्तर दोनों में अवश्य है। वह यह है कि बीज में से जब पौधा उगता है तो बीज-बीज नहीं रहता है। उसमें स्वरूप परिवर्तन रूपी विकार आया करता है। परन्तु इस बात के विपरीत शिव में ये ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के होते रहने पर भी शिव के स्वरूप में कोई भी विकार नहीं आता है। वह सदैव शिव ही बना रहता है। जगत् की सृष्टि में भी और स्थिति में भी। तो संसार की उत्पत्ति शिव से किस प्रकार से हुआ करती है ? इस समस्या को सुलझाने में लगे हुए शैव सिद्धों को शैवी योग विद्या के अभ्यास से यह साक्षात् अनुभव होता रहा कि जगत् की सृष्टि, स्वरूप-परिवर्तन से नहीं होती है। शिव के स्वरूप में विद्यमान पारमेश्वरी शक्तियों के प्रतिबिम्ब जब बहिर्मुखतया चमक उठते हैं, तो संसार की सृष्टि हुआ करती है। तात्पर्य यह है कि समस्त ब्रह्माण्ड शिव के भीतर उस तरह से शक्तिरूपतया विद्यमान रहता है जिस तरह से बीज में पौधा बीज की शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। परन्तु बीज जब पौधा बन जाता है तो वह बीज नहीं बना रहता है। वह पौधा बन जाता है। शिव से जगत् की सृष्टि के होने पर भी शिव ही बना रहता है, जगत् के रूप में उसका परिणाम या परिवर्तन नहीं होता है।

शिव अनन्त शक्तियों का एकाकार असीम, शुद्ध और सर्वसामर्थ्य वाला शुद्ध चैतन्य है। वह शिव चैतन्य आनन्दमय होता हुआ सदैव क्रीडाशील बना रहता है। समस्त क्रीडाएं अन्तर्मुख आनन्द की बहिर्मुखी लीलाएं हुआ करती हैं। तो शिव अपनी आनन्दमयी क्रीडाओं को अभिव्यक्त करता हुआ अपनी पारमेश्वरी शक्तियों को बहिर्मुखतया उसकी अहं-रूपी शक्तियों के प्रतिबिम्ब इदंरूपतया प्रकट होते रहते हैं। उन्हीं प्रतिबिम्बों के प्रकट

होते-होते ब्रह्माण्ड के सृष्टिसंहार आदि कृत्य होते रहते हैं। यह ब्रह्माण्ड छत्तीस तत्त्वों से बना हुआ है और वे छत्तीस तत्त्व शिव की शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार के बहिर्मुख प्रतिबिम्ब हैं। महाकवि कालिदास की प्रतिभा के भीतर उसकी कवित्व शक्ति के रूप में कई एक सुन्दर-मनोहर काव्य और नाटक विद्यमान थे। कालिदास ने उस कवित्व शक्ति को जो बहिर्मुखतया आभासित किया तो उसकी उस शक्ति के प्रतिबिम्ब कई एक काव्यों और नाटकों के रूप में प्रकट होते रहे। एक सुविचित्र और आकर्षक चित्र चित्रकार की प्रतिभा के भीतर शक्तिरूपतया विद्यमान रहता है। वही चित्र उसकी विचित्र कला के माध्यम से दीवार पर जब चमक उठता है तो किसके मन को मोहित नहीं करता है।

यह समस्त ब्रह्माण्ड और इसके छत्तीसों तत्त्व शिव के भीतर उसकी पारमेश्वरी शक्तियों के रूप में विद्यमान रहते हैं। शिवकी ही स्वतन्त्र इच्छा के बल से ये तत्त्व बहिर्मुखतया प्रकट हो जाते हैं। अन्तर्मुखता में शिव के 'अहं' के भीतर अहंरूपतया सदा विद्यमान होते हुए ही इदंरूपतया अर्थात् भेद दृष्टि से बहिर्मुखतया प्रकट होते रहते हैं। तो अन्तर्मुखतया और अहंरूपतया सदा विद्यमान जगत का इदंरूपतया और बहिर्मुखतया प्रकट होते रहना ही इसकी सृष्टि कहलाती है।

शिव से जगत् की इस तरह से सृष्टि के होते हुए भी शिव भीतर से खाली नहीं हो जाता है ? इस प्रश्न का उत्तर शैव दर्शन इस तरह से देता आया है—शिव से जगत् की सृष्टि के होते हुए शिव में न तो कोई विकार ही आता है और नहीं शिव भीतर से जराभर भी खाली हो जाता है। वह सदा परिपूर्ण ही बना रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार से सांख्य शास्त्र की मूल प्रकृति में परिणाम अर्थात् स्वरूप परिवर्तन के हो जाने पर ही तेईस तत्त्वों की सृष्टि हुआ करती है, उस तरह से शिव से छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि नहीं होती है। शिव से छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि के होते रहने पर भी शिव के मूलस्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है। शिव सदैव एकमात्र असीम और शुद्ध तथा परिपूर्ण संवित् ही बना रहता है। तो छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि कैसे होती है।

इस समस्या को शैव गुरुओं ने योगाभ्यास द्वारा अनुभव में लाई हुई स्वतन्त्र परमेश्वरता के सिद्धान्त के द्वारा बड़ी सुगमता से सुलझाकर रख दिया। इसी समस्या में उलझते हुए अन्य दर्शनकारों में से किसी ने रजोगुण की चञ्चलता को आधार बनाकर और किसी ने एक अर्निवचनीय अज्ञानात्मक अनादि अविद्या का आसरा लेकर सुलझाने के यत्न किए। परन्तु वैसे यत्न जिज्ञासुओं की तीव्र जिज्ञासा को शान्त नहीं कर सके और समस्त शङ्काओं का निराकरण नहीं कर सके। सांख्यशास्त्र की प्रकृति और अद्वैत वेदान्त की माया दोनों ही जड पदार्थ हैं जो सृष्टि संहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों को न्यायानुकूल रीति से चला

नहीं सकते। अतः शैव सिद्धों ने पारमेश्वरी स्वतन्त्र परा शक्ति के आधार पर समस्त शङ्काओं का समाधान किया। इन शैव सिद्धों को वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद से सन्तोष नहीं हुआ। सांख्यशास्त्र की जड स्वभाव वाली मूल-प्रकृति की परिणामशीलता में भी इन्हें अनेकों सन्देहात्मक प्रश्नों के समुचित उत्तर नहीं मिले, फिर अद्वैत वेदान्त के मायावाद में भी इन्हें द्वैत का गन्ध अनुभव में आया। फिर इन शैव सिद्धों को शैवी योगसाधना के अभ्यास के फल स्वरूप पारमेश्वरी शक्तियों के प्रतिबिम्बवाद के दर्शन होते रहे। शैवी साधना की सफलता से इन्हें जो सत्य अनुभव में आया, उसका संक्षिप्त परिचय इस तरह से दिया जा रहा है—

सृष्टि संहार आदि कृत्यों का मूल कारण न तो ईश्वर कृत परमाणु संयोग वियोग ही है, नहीं मूलतः केवल प्रकृति परिणाम से सृष्टि संहार आदि हुआ करते हैं और न ही अनादि अविद्या ही इन का मूल कारण बन सकती है। कश्मीर के शैव सिद्धों ने शैवी योगसाधना के अभ्यास से इस सत्य सिद्धान्त को साक्षात् अनुभव द्वारा जान लिया, जिस के अनुसार सृष्टि संहार आदि पारमेश्वरी कृत्य न तो परमाणु संयोग आदि से नहीं मूल प्रकृति के स्वतन्त्र परिणाम से और नहीं परब्रह्म की उपाधि रूप माया के प्रभाव से हुआ करते हैं। ये पांचों कृत्य परमेश्वर की शक्ति के विलास से होते रहते हैं। इन कृत्यों के होते हुए मूलतः न तो परमाणु संयोग ही आधार बन सकता है, नहीं जड स्वभाव वाली मूल प्रकृति ही इन कृत्यों की आधारशिला बन सकती है। फिर अनादि अविद्या को इनका मूल कारण मानने पर द्वैतवाद की ओर मुड़ना पड़ता है। अतः इन शैव सिद्धों ने इस तथ्य सिद्धान्त का साक्षात् अनुभव किया कि स्वयं परमेश्वर ही अपनी लीलात्मिका शक्ति के विलास से सृष्टि संहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों का लीलात्मक अवभासन करता रहता है।

शैव सिद्धों ने शैवी योग साधना के सफल अभ्यास से इस प्रकार से दार्शनिक समस्याओं का समाधान किया कि कोई भी शङ्का शेष नहीं रह पाई। इन सिद्धों ने योगबल से जिन अटल सिद्धान्तों का अनुभव किया वे ये हैं—

शिव एक असीम, सर्वशक्तिमान्, आनन्दघन, शुद्ध चैतन्य स्वरूप तत्त्व है। जो सर्वथा परिपूर्ण है।

उसकी आनन्द घनता क्रीडात्मकता के रूप को धारण करती हुई १) सृष्टि, २) स्थिति, ३) संहार, ४) पिधान (स्वरूप गोपन) और ५) अनुग्रह कृत्यों को अभिव्यक्त करती हुई सदैव कृतकृत्यता के पूर्ण आनन्द का आस्वाद लेती रहती है। यह उसका स्वभाव है।

प्रत्येक जीव वस्तुतः शिव ही है, क्योंकि इन पांच क्रीडाओं के विलास में झूमता हुआ शिव लीला का अभिनय करता रहता है। यह लीला उस स्वरूप परिवर्तन के न्याय

से नहीं चलती रहती है, जिसे परिणामवाद कहा जाता है। फिर यह लीला किसी बाह्य पदार्थ अर्थात् माया आदि के प्रभाव से भी नहीं चलती है। यह लीला शिव की स्वतन्त्र क्रीडात्मक अभिनय कृत्यों से चला करती है। तदनुसार शिव स्वयं जीव, ईश्वर और जगत के रूपों को धारण करता हुआ इस खेल को नटवत् खेला करता है। इन रूपों में प्रकट होते रहने पर भी शिव के स्वरूप में कोई भी परिवर्तन या विकार या परिणाम नहीं होता है। वह सदैव शुद्ध ओर असीम तथा अनन्त और आनन्दघन स्वरूप में प्रकाशमान होता हुआ ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा के बल से इन-इन रूपों में प्रकट होता रहता है।

इस तरह से शिव से जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति आदि हुआ करती है, वह स्वरूप-परिवर्तन से अर्थात् परिणाम न्याय से नहीं होती है। स्वरूप परिवर्तन जड पदार्थों का ही हुआ करता है। चैतन्य में कोई ऐसा विकार नहीं आ सकता है।

तो जगत् के सृष्टि संहार आदि किस तरह से हुआ करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर में शैव दर्शन यह समाधान करता आया है कि जगत के सृष्टि-संहार आदि और जीवों के सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष आदि सभी के सभी व्यवहार प्रतिबिम्ब न्याय से चला करते हैं, परिणाम न्याय से; अर्थात् स्वरूप परिवर्तन से नहीं होते हैं। स्वरूप परिवर्तन जड पदार्थों का ही होता है। शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमेश्वर का नहीं होता है।

स्वरूप परिवर्तनशील सभी पदार्थ पराधीन और जड स्वभाव के होते हैं। शुद्ध चैतन्य में न तो कोई परिवर्तन ही होता है और न विकार ही। दर्पण में विविध वस्तुओं और उनकी गतिविधियों का आभास मात्र हुआ करता है। उससे न तो दर्पण में और न ही उन वस्तुओं आदि में कोई स्वरूप परिवर्तन ही आता है और न कोई विकार ही। इस प्रतिबिम्ब सिद्धान्त का स्पष्टीकरण इस प्रकार से किया गया है—

परमेश्वर का स्वरूप परिपूर्ण, असीम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अनिर्वचनीय शुद्ध चैतन्यमात्र ही है। वह अपने स्वभाव से ही आनन्दघन है। उसे जिधर से देखो उधर से आनन्द ही आनन्द है; ऐसा आनन्द है जिस का न तो कोई और है और न छोर है। वह सर्वथा असीम आनन्दघन है। जैसे नमक ढला सर्वत्र नमकीन होता है, वैसे ही परमेश्वर सर्वतः और सर्वथा आनन्दघन है।

आनन्द अपने स्वभाव से ही क्रीडाके रूप में, प्रकट होता रहता है। एक नन्हा बच्चा भी अपनी आनन्दमयता के प्रभाव से हाथ पैर हिलाया करता है और मुख, नेत्र आदि के द्वारा स्पन्दन करता हुआ अपने आनन्दात्मक स्वभाव को अभिव्यक्त करता है। परमेश्वर भी अपनी आनन्दघनता को सृष्टि संहार आदि क्रीडाओं द्वारा अभिव्यक्त करता रहता है। ऐसी

क्रीडा के रूपों में प्रकट होता हुआ आत्म आनन्द की बहिर-अभिव्यक्ति को और अपनी सर्वशक्तिमत्ता के स्वभाव की लीला को खेल-खेल में प्रकट करता हुआ अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता में सदैव मानो झूमता रहता है।

शुद्ध स्फटिक शिला में या निर्मल दर्पण में नील पीत आदि रंगों के और गोल, चकोर, त्रिकोण, सुन्दर, असुन्दर आदि बाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब तो चमकते रहते हैं, परन्तु इन प्रतिबिम्बों के आभासन से स्फटिक शिला में या दर्पण में या स्वच्छ जलाशय के अपने स्वरूप में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है। ये सभी स्वच्छ और निर्मल पदार्थ सदैव अपनी स्वच्छता को और निर्मलता को निभाए रखते हैं। बहुत कुछ उसी तरह से समस्त संसार के ओर उसके सृष्टि-संहार आदि कृत्यों के प्रतिबिम्ब शिव के शुद्ध चैतन्य में चमकते रहते हैं और उन सभी पदार्थों के चमकते रहने पर भी शिव रूपी दर्पण में कोई विकार या स्वरूप परिवर्तन या स्वभाव परिवर्तन सर्वशक्तिमत्ता बिखर उठती है।

दर्पण आदि को प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के लिए एक तो बाह्य पदार्थों के साम्मुख्य की और दूसरे उन प्रतिबिम्बों को देखने वाले चेतन प्राणियों की अपेक्षा रहती है, परन्तु पारमेश्वर दर्पण को किसी भी अन्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती है। उसकी अपनी पारमेश्वरी शक्तियां ही उसी के भीतर उसी की स्वतन्त्र इच्छा से प्रतिबिम्बित होती रहती है। उन शक्तियों के प्रतिबिम्ब ही समस्त ब्रह्माण्ड के रूप में और ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त पदार्थों रूपों में प्रकट होते रहते हैं। इस प्रतिबिम्बन्याय से जगत् सृष्टि की व्याख्या शैवदर्शन में की गई है। इस न्याय को मानने पर कोई भी शङ्का शेष नहीं रहजाती है। समस्त शङ्काएँ शान्त हो जाती हैं।

शिव की अनन्त शक्तियों को बारह मुख्य वर्गों में बांटते हुए उनका निरूपण शैवदर्शन में किया गया है। तो शैव योग की साधना की एक सर्वोच्च प्रक्रिया में समस्त ब्रह्माण्ड को शिव की शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्बों के रूप में जानना समझना और साक्षात् अनुभव करना होता है। ब्रह्माण्ड का वर्गीकरण छत्तीस तत्त्वों के रूप में किया गया है। शैवी योग साधना के उत्कृष्ट उपाय में, अर्थात् शाम्भव उपाय में, साधक ने इस बात के साक्षात् अनुभव का अभ्यास करना होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड के छत्तीसों तत्त्व स्वात्म शिव की शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्बों के रूपों में प्रकट होते रहते हैं। इस तरह के अभ्यास के द्वारा इस बात का साक्षात् अनुभव करना होता है कि “मैं एकमात्र, असीम और सर्वशक्तिमान् तथा सतत क्रीडा-विलास-शील वह शुद्ध चैतन्य हूं, जिसे शैवदर्शन में संवित् नाम दिया गया है। साथ ही साथ उसे इस बात की साक्षात् अनुभूति का अभ्यास करना होता है कि समस्त ब्रह्माण्ड और उसके छत्तीसों तत्त्व सारे के सारे मेरी अपनी पारमेश्वरी शक्तियों के बहिर्मुख

प्रतिबिम्ब हैं। इस तरह से प्रतिबिम्ब न्याय से छत्तीसों ही तत्त्वों को अपना आप समझते हुए ऐसी सत्यता का बार-बार अभ्यास करना होता है। ऐसा अभ्यास शाम्भवोपाय कहलाता है। इस अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर उठते, बैठते, चलते, फिरते, समस्त लोक व्यवहारों को करते-करते भी समस्त शक्तियों से परिपूर्ण स्वात्मशिव के साक्षात् अनुभव का आनन्द साधक को आया करता है और साथ ही पारमेश्वरी शक्तियां भी उसमें अंशतः जाग उठती हैं।

इस शाम्भवोपाय के अभ्यास में 'अ' से लेकर 'अः' तक के सोलह स्वर वर्ण सर्वात्म परमेश्वर की पारमेश्वरी शक्तियों के रूप में चमक उठते हैं और 'क' से लेकर 'ह' तक के व्यञ्जन वर्ण उन शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्बों के रूप में चमकने लगते हैं। स्वात्म शिव की ये शक्तियां अ से लेकर अः तक के वर्णों के साथ अभेदभाव से चमकती हुई योगी के साक्षात् अनुभव का विषय बनती हैं। फिर शैव योगी 'क' से लेकर 'ह' (या 'क्ष') तक के व्यञ्जन वर्णों के साथ अभेदभाव से ठहरे हुए उन शक्तियों के प्रतिबिम्बों का साक्षात्कार कर जाता है। इस तरह से सोलह शक्तियों से शोभायमान बनती हुई साधक की 'अहं' रूप वाली स्वात्मसंवित् भली भान्ति चमक उठती है और समस्त प्रमेयात्मक जगत् उसे अपनी ही शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्बों के रूप में चमकता हुआ, साक्षात् अनुभव में आ जाता है। अपने इस वास्तविक स्वरूप की ऐसी पुनः पहचान ही काश्मीर शैव दर्शन की उपासना का मुख्य प्रयोजन है।

शैवदर्शन के त्रिक नाम साधना क्रम में इस योग-प्रक्रिया को मातृका-उपासना कहा जाता है। इस उपासना के अभ्यास के द्वारा यह सत्य सिद्धान्त साक्षात् अनुभव का विषय बन जाता है कि समस्त विश्व और उसके छत्तीसों ही तत्त्व योगी की आत्मसंवित् के बहिर्मुख प्रतिबिम्ब हैं और इन विचित्र प्रतिबिम्बों से सुशोभित आत्मस्वरूप का साक्षात्कार योगी को अनायास ही हो जाता है। वह बिना किसी यत्न के इस बात का साक्षात् अनुभव करने लगता है कि समस्त विश्व और इसके छत्तीसों तत्त्व मेरी ही पारमेश्वरी शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्ब हैं, जो मेरी स्वभाव भूता परमेश्वरता के बहिर्मुख स्पन्दन से आभासित होते रहते हैं। इस प्रकार से शाम्भवी उपासना का अभ्यास करने वाला योगी अपनी असीम और शुद्ध संवित् को इन प्रतिबिम्बात्मक छत्तीस तत्त्वों और तत्त्वेश्वरों से सुरञ्जित और चमत्कारमयी स्थिति में साक्षात् देखता हुआ कृतकृत्यता का अनुभव करता रहता है। अपने वास्तविक स्वरूप का ऐसा साक्षात्कार ही शाम्भव-योग के अभ्यास का एक मुख्य फल होता है।



शैवदर्शन के वातायन से

प्रो० नीलकंठ गुरुदू

सप्तत्रिंश-पदः— शिव-तत्त्व से लेकर पार्यन्तिक पृथिवी-तत्त्व तक के छत्तीस तत्त्वों का विश्व, मौलिक सैंतीसवें, प्रकाश-विमर्श की समरसता के रूप वाले पूर्ण परशिव भावमय स्वरूप का बहिरंग आभास मात्र है। ये छत्तीस तत्त्व सदा वेद्यरूप में आभासमान होने के कारण प्रमेय रूप में ध्यान इत्यादि का विषय बन जाते हैं। परन्तु यह सैंतीसवां पद समूचे विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण प्रपञ्च का आधारभूत वेदक पद होने के कारण किसी भी अवस्था में ध्यान आदि का विषय नहीं बन जाता है क्योंकि यह वेदकपद से डिगता नहीं है।

इसी सर्वातीत समरसतामय वेदक-पद को शास्त्रीय परिपाटी में सप्तत्रिंश वेदक पद कहते हैं।

अष्टात्रिंश-पद— अब यदि किसी परिस्थिति में इस सप्तत्रिंश वेदकपद को ध्यान इत्यादि का विषय बनाने का प्रयत्न किया जाए तो यह आंख की पलक में अडतीसवां वेदकपद बन जाता है और पहला सप्तत्रिंश वेदक पद वेद्यभाव पर टिक जाता है। इस परिस्थिति में इस अडतीसवें वेदकपद को पारिभाषिक रूप में अष्टात्रिंश-पद कहा जाता है।

इस अवस्था में भी यदि इस अष्टात्रिंश-पद को भी ध्यान-अर्चना का विषय बनाने का प्रयत्न किया जाए तो वेदकभाव फिर सहसा पूर्वोक्त सैंतीसवें पद पर प्रतिष्ठित हो जाता है और अष्टात्रिंश पद वेद्यभाव पर उतर जाता है। फलतः परिपूर्ण वेदकभाव इन्हीं दो पदों में से किसी एक पर-अर्थात् सप्तत्रिंश या अष्टात्रिंश पद पर कहीं न कहीं अविचल रूप में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित रहता है। इतना तो अवश्य है कि वेदकभाव सर्वातीत पद होने के कारण स्वरूप से कभी भी डिगता नहीं है और न पराशक्ति की अनुकम्पा के विना किसी की पकड़ में आता है।

कृति-वित्—यह शास्त्रीय शब्द “कृतिः” एवं “वित्” इन दो शास्त्रीय शब्दों का संयुक्त रूप है। इनमें से “कृतिः” शब्द ईश्वरीय क्रियाशक्ति, और “वित्” ईश्वरीय ज्ञानशक्ति के द्योतक हैं। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का स्पन्दन ही समूचे विश्व का जीवन है।

उन्मेष-निमेष—चित्ता और आनन्दता अर्थात् परशिवमय प्रकाश और पराभट्टारिकामय विमर्श का सघन समरसीभाव, कुल मिलाकर, परमशिव मय वेदकभाव ही सब का

आधारभूत एवं अनाख्य चैतन्य पद है। यही अनाख्य पद बहिरंग विश्वमयता को आभासित करने की उन्मुखता में, सब से पहले, स्वरूप में ही निलीन निजी शक्तिभाग को स्वरूप से पृथक् रूप में आभासित करता है, इस ईश्वरीय क्रियात्मकता को उन्मेष कहते हैं। संहार लीला में यही अनाख्य पद इसी स्वरूप से स्वयं अलगाए हुए शक्तिभाग को समेट कर फिर स्वरूप में ही निलीन करता है, इस ईश्वरीय क्रिया को निमेष कहते हैं। वास्तव में ये दोनों एक ही ईश्वरीय क्रियाशक्ति के दो पार्श्व हैं। यह उन्मेष में ही निमेष और निमेष में ही उन्मेष का स्पन्दन है।

अपरोक्ष-साक्षात्कार—साधना की इस अवस्था को प्रत्यक्ष-साक्षात्कार भी कहते हैं। तात्पर्य यह है कि अलक्षित ईश्वरीय अनुग्रह से ही समावेश की अवस्था में आत्मभाव का परमात्मभाव में परिपूर्ण लयीभाव हो जाने की अनुभूति को परमात्मा का अपरोक्ष-साक्षात्कार कहा जाता है। दूसरे शब्दों में इस अवस्था को स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा भी कहा जाता है।

संपदा—अनादिनिधन परमेश्वर भाव के साथ परिपूर्ण तन्मयीभाव को पारिभाषिक रूप में संपदा, विभूति इत्यादि कहते हैं।

विभूति—छत्तीस तत्त्वों के इस दृश्यमान आश्चर्यजनक विस्तार को शैवशब्दों में परमेश्वर का वैभव या विभूति कहा जाता है।

माहेश्वर्य—महान ईश्वर की अलोक सामान्य महेश्वरता को माहेश्वर्य कहते हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान एवं अनुग्रह इन पांच ईश्वरीय कृत्यों को यथावत् रूप में संपन्न करने के लिए निजी सर्वस्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त और किसी पर निर्भर न होना ही माहेश्वर्य है।

परमार्थ मोक्ष—महान ईश्वर के दासभाव पर प्रतिष्ठित हो जाने के फलस्वरूप निर्बाध शिवस्वातन्त्र्य के अधिगम को परमार्थ-मोक्ष माना जाता है। ऐसा मोक्ष प्राप्त करने पर फिर कभी संसार भाव में वापस लौट आने की कोई संभावना नहीं रहती है। ऐसी मुक्ति को दूसरे शब्दों में पर पुरुषार्थ या प्रत्यभिज्ञा शब्दों में पुमर्थ भी कहा जाता है।

करण—स्वात्ममहेश्वरदेव के अनुग्रह से जब सारी इन्द्रिय वृत्तियां अपनी पाशवी वृत्तिरूपता से छुटकारा पाकर शक्ति-रूपता को प्राप्त करती हैं तब उनको करण या इन्द्रिय शक्तियां कहते हैं।

अपह्नव—किसी भाव या पदार्थ के यथावत् स्वरूप का अपलाप करने अर्थात्

जोर-जबर्दस्ती झुठलाने को अपहव कहते हैं।

व्यवधान—यह शब्द किसी प्रकार की आड़, जिससे कोई पदार्थ सामने होता हुआ भी दीख नहीं पड़ता है, व्यवधान कहलाता है। इसको दूसरे शब्दों में आवरण भी कहते हैं।

स्व प्रकाशावरण—स्वभावतः प्रकाशमान रहने वाले स्वात्मप्रकाश पर आवरण बनने वाली अख्याति अर्थात् स्वरूपगोपनात्मिका माया को स्वप्रकाशावरण कहते हैं। स्वात्मावरण स्वात्मविस्मृति को जन्म देता है।

तटस्थता—किसी प्रकार की मानसिक कुंठा के प्रभाव से, सांसारिक या इतर क्रियाकलापों में रुचि न दिखाने की प्रवृत्ति को तटस्थता या ताटस्थ्य कहते हैं।

विजृम्भा—साधारण रूप में इस शब्द से जम्हाई का अर्थ लिया जाता है, परन्तु अध्यात्म के संदर्भ में यह शब्द ईश्वरीय शक्तिपुञ्ज की विलसमानता एवं बहिरंग प्रसार के अभिप्राय को द्योतित करता है। वैसे तो ईश्वरीय शक्तिकलाप सदा-सर्वदा स्वयंसिद्ध रूप में विलसमान ही होता है परन्तु मोहात्मक आवरण से ग्रस्त जनसमाज को दिखाई नहीं दे रहा है।

चेतनता—ज्ञान एवं क्रिया की स्वभाव-सिद्ध एवं निर्विराम स्फुरणा ही सारे चेतन भावों में अन्तर्निहित चेतनता कही जाती है। जिन पदार्थों में इसका अनुप्रवेश हो उनको जीवित और जिनमें इसका अनुप्रवेश न हो उनको जड माना जाता है। ज्ञान एवं क्रिया के स्पन्दन से प्रकाश एवं विमर्श का स्पन्दन समझना चाहिए।



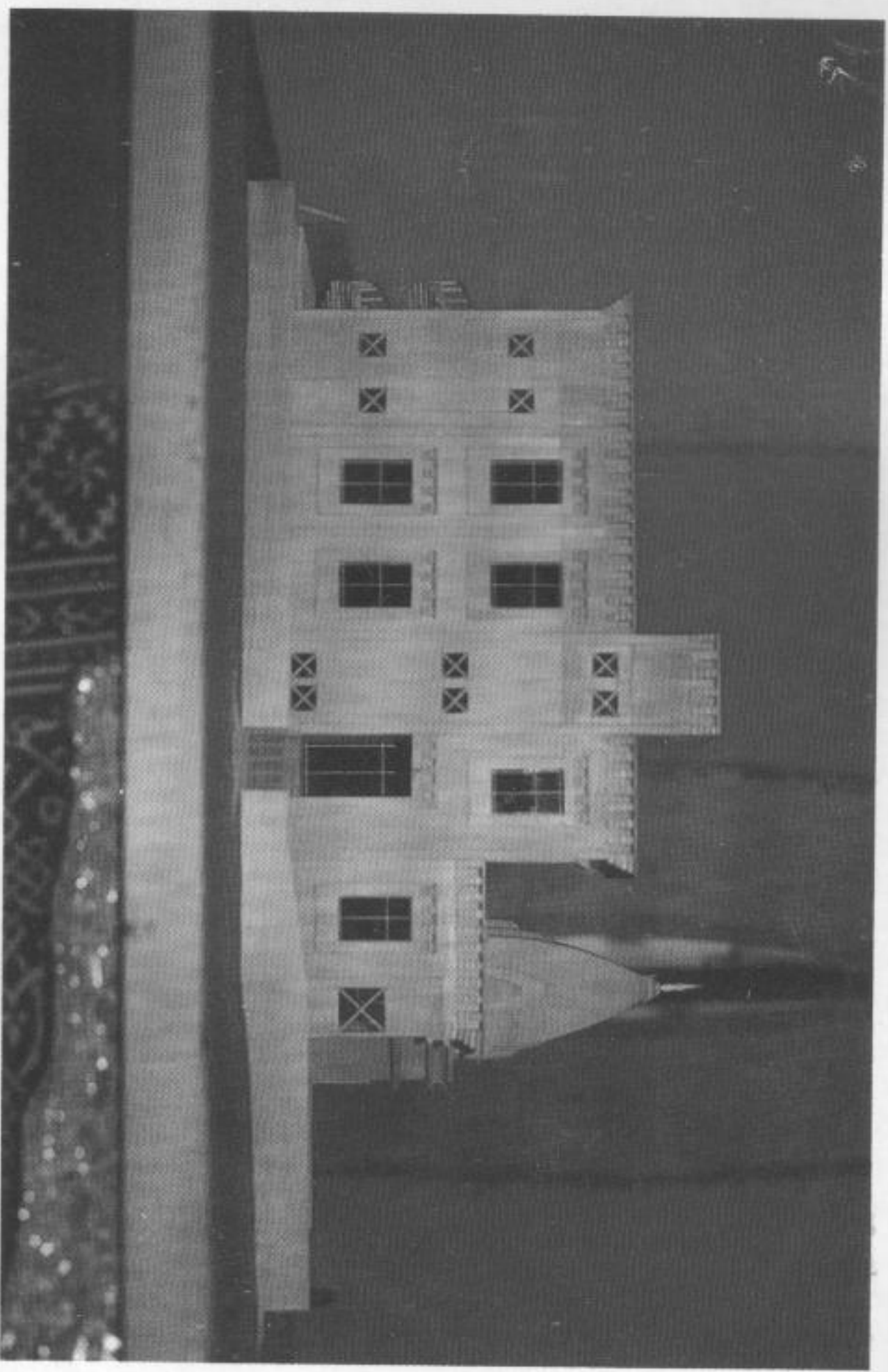
कहानी मेरे गुरुदेव की

मेरी कविता के पात्र है वह आत्मा
हमारे लिए थे जो साक्षात् परमात्मा
पिता नारायण जू, अरण्यमाली माता
गुरु थे महताब काक स्वामी महात्मा
नौ मई १९०७ को आई महाविभूति जब
नाच उठे परमेष्ठिगुरु राम हुए आनन्द मग्न तब
बोले यह हैं शिवतुल्य, पूर्ण योग संपन्न
मैं हूँ राम तो यह हैं सत्यतः लक्ष्मण
बचपन से ही थे जिनके दिव्य लक्षण
होठों पर आशुतोष का नाम रटते थे हरदम
वे गए पर-वैराग्य के साँचे में रम
तज कर भववैभव निर्मम
गुरुदेव थे साक्षात् शिव के रूप
बुलाते प्रेम से इन्हें ईश्वर स्वरूप
जिन्हें देख होता वृत्तियों का उपरम
आनन्द फुहार होता था अनुपम
स्मितानन से सभी को भाते थे
निज भक्तों के कष्ट मिटाते थे
धरा जिस पर निज वरद हाथ
निभाया हमेशा उनका साथ
मिले देवी शारिका से यह जब प्रथम बार
पहचानी अपनी शिष्या देखकर उनके आचार-विचार
शुरू हुआ उस दिन से गुरु शिष्य सम्बन्ध
जिसे निभाया देवी ने मरते दम
भक्तों को गहन भवसागर से देने तार
बनाया अपना आश्रम डल के पार

प्रवचनों और दर्शनों का दिन था रविवार
 भीड़ होती थी अतः हर इतवार
 शैव-शास्त्रों के अमृत का करपान
 मिटाना चाहा आपने भक्तों का अज्ञान
 समझाना चाहा कि केवल ईश्वर है महान्
 मायाजाल है बाकी सारा जहान
 “मम मम” की यह रट तू त्याग
 “अहं” को खोजो होके विराग
 इनका दर्शन पाके कृतार्थ
 हुए सारे जन त्यज सब स्वार्थ
 स्वर्ग बना उनका भूलोक
 सँवर गया उनका परलोक
 हाय कहूँ क्या हुआ हताश
 दूर हुई जब उनकी आस
 छोड़ गये कर हमें निस्सहाय
 बिजली गिरी जला घरबार
 रहबर मेरे मुझ में रहकर
 बिछुडे मास सितम्बर में जब
 बुझा उसी दिन नौ वर्ष पूर्व
 मेरा हृदयदीप आलोकहीन बन।
 अब यह साध है मेरी अविरम
 चलूँ उन्हीं की राह पर हरदम
 समझूँ मैंने सब कुछ पाया
 जीवन अपना सफल बनाया॥

- विवेक काक





Model of Ishwar Ashram Trust under construction at Sarita Vihar



ISHWAR ASHRAM TRUST

(FOUNDED BY SRI ISHWAR SWAROOP SWAMI LAKSHMAN JOO MAHARAJ)

Head Office:
Ishber Nishat 2,
Srinagar - 190021
(Kashmir)

Administrative Office :
Mohinder Nagar,
Canal Road,
Jammu (Tawi) - 180002
Tel - 555755

Delhi Office :
F 115, Sarita Vihar,
New Delhi - 110044
Tel - 6943307
Telefax - 6955611

Dear Brother/Sister,

Ishwar Ashram Trust, Ishber, Kashmir, established by the Great Master Swami Lakshman Joo in Kashmir to propagate, preserve and spread the theory and practice of Kashmir Shaiva Philosophy, has over the last decades established its chapter at Jammu and Delhi. The Delhi chapter of the Trust has been registered as a Society under Societies Registration Act.

Currently, Ishwar Ashram Trust in Srinagar and Jammu is engaged in such social activities as :

- ★ Propagation and Publication of literature on Kashmir Shaivism.
- ★ Production of Audio Cassettes on the teachings of the Great Master.
- ★ Publication of Quarterly Magazine - 'Malini' to propagate Kashmir Shaivism.
- ★ Granting of scholarships to needy students upto degree level.
- ★ Help to destitutes for meeting their immediate needs.
- ★ Help to needy and sick by meeting their medical expenses.
- ★ Free Medical dispensary.

Ishwar Ashram Trust now wishes to extend all its activities to Delhi also. By the grace of Lord Shiva and Swamiji, Ishwar Ashram Trust has acquired a prime plot at R-5, D Pocket, Sarita Vihar, New Delhi from the Delhi Development Authority. The cost of plot (Rs 18 lacs) was raised through funds by generous contributions from fellow members and others.

Looking at the tremendous response that we have got in the past, we have now embarked upon an ambitious project to set up an Ashram at Sarita Vihar. In accordance with the practice in vogue at Ishwar Ashram (Srinagar) during the life time of Swamiji, the Ashram will provide, under one roof facilities for meditation, puja, satsang, yajnas including publication of books, journals and other related literature. It is also proposed to build a Shiv Mandir adjacent to the Ashram in typical Kashmir architectural setting. It is from this Ashram that the Society will carry on its social and welfare activities for one and all.

The building plans of the proposed Ashram have been submitted to the DDA for approval. Final approval of the plans are expected shortly. Hopefully construction work will be undertaken in January 2000.

This ambitious project will be completed at the cost of approximately Rs 50 lacs. This will, however, depend on your active and generous support. It is indeed a God send opportunity for you to participate in religious, social and welfare activities and fulfil your responsibility to the Society.

We appeal to your kind self, to please contribute to this noble cause and thus help thousands of needy and destitutes.

Contributions can either be paid in cash or through Demand Draft/Cheque drawn in favour of "Ishwar Ashram Trust". All contributions will be exempt from the Income Tax levy.

Join us in our dream to help others dream and realise a better life.

Regards,

Yours sincerely,

I.K. Raina
Secy. Trustee

Capt. M.K. Kachru
President



ISHWAR ASHRAM TRUST

(Founded by Sri Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj)

Gupt Ganga, Ishber, P.O. Brein Nishat, Srinagar - Kashmir

CALENDAR OF FESTIVALS 2000-2001

2000

April 5	Wednesday	Navreh	
May 1	Monday	Janamdivas Jayanti (as per moon calendar)	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
May 9	Tuesday	Varsh (Date of birth) (as per solar calendar)	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
May 9	Tuesday	Ling Pratishthan Jayanti	Amriteshwar Temple Mohinder Nagar, Jammu.
May 14	Sunday	Ling Pratishthan Jayanti	Amriteshwar Temple Ishber Nishat Srinagar.
July 16	Sunday	Guru Purnima	
August 15	Tuesday	Srāvaṇa Pūrṇima	
August 22	Tuesday	Janam Ashtami	
September 15	Friday	Pitra Pakṣ Jagh	Swami Mahtab Kak Ji Maharaj
September 16	Saturday	Pitra Pakṣ Jagh	Sushri Sharika Devi Ji
September 17	Sunday	Vārṣika Ni rvāṇa Jayanti	Ishwar Swaroop Swami Lakshman Joo Maharaj
September 26	Tuesday	Pitra Paksh Jagh	Swami Ram Ji Maharaj
October 31	Thursday	Janamdivas Jayanti	Swami Mahtab Kak Ji Maharaj
November 27	Tuesday	Janamdivas Jayanti	Sushri Sharika Devi Ji
December 22	Friday	Janamdivas Jayanti	Swami Ram Ji Maharaj

2001

January 22	Monday	Vārṣika Jagh	Swami Ram Ji Maharaj
February 10	Saturday	Vārṣika Jagh	Swami Sharika Devi Ji
February 20	Tuesday	Mahā Śivarātri	
February 24	Saturday	Vārṣika Jagh	Swami Māhtab Kak Ji Maharaj

Administrative Office :

2-Mohinder Nagar, Canal Road, Jammu Tawi.

(I.K. Raina)
Secretary

**Safety first.
Or leadership that
helps protect all that
one holds dear.**



New India is one of the first fully Indian insurance companies.

Since its inception 75 years ago, New India has remained firm in its pledge to offer security and support to the people of India.

Over the years, New India has offered a range of pathbreaking insurance covers. From cancer, mediclaim and birthright (unborn child welfare). To low premium personal accident policies for farmers. And cash compensation for the underprivileged, in the event of accidental death of sole breadwinner.

These insurance covers from New India are helping make life a lot more secure. Physically and emotionally.

No wonder, New India remains India's leading general insurance company.

NEW INDIA ASSURANCE



A subsidiary of the General Insurance Corpn. of India

75 years of solid, secure support

CONTOUR-NIA-217A/95